पाठशालाप्रबन्ध और स्वास्थ्य

(School Organisation & Hygiene)

लेखक

सीताराम जायसवाल, एम० ए०, एल० टी०

सर्वोदय साहित्य मन्दिर

हुसैनीअलम रोड, हैदराबाद (दक्षिण).

प्रकाशक

नंदकिशोर एंड ब्रदर्स

बनारस

द्वितीय संस्करण] १९५० [दो रुपये

मुद्रक—
के० कृ० पावगी,
हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, काशी।

भूमिका

देश की वास्तविक सम्पत्ति जनता द्वारा होने वाला श्रम है। श्रम ही सम्पत्ति है और देश का वास्तिविक बल विचार-शक्ति है। यदि हम शिक्षा द्वारा इस सत्य को अनुभव कर सकें तो देश का कल्याण हो। मैंने यहाँ 'अनुभव' शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर किया है। यदि हम 'अनुभव' शब्द पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि कार्य और कर्ता में कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार शिक्षा और शिक्षक, शिक्षा और शिक्षार्थी, तथा शिक्षा और शिक्षालय में कोई वास्तविक भेद नहीं है। ये सब शिक्षा रूपी रत्न के विभिन्न पक्ष हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में शिक्षा-संगठन, कक्षा-प्रबन्ध, स्कूल हाइजिन, प्रांत में शिक्षा की नवीन योजनाओं, सचल शिक्षक दल और उसके द्वारा होने वाले सांस्कृतिक कार्य पर प्रकाश डाला गया है। आशा है कि पुस्तक के अध्ययन के पश्चात् पाठक देश की वास्तविक सम्पत्ति और शक्ति की वृद्धि में सहायक होगा।

अन्त में मैं उन लेखकों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ जिनकी कृतियों से मुझे इस पुस्तक की रचना में सहायता मिली है। मैं श्री नंदकिशोर एंड ब्रदर्स का भी आभारी हूँ जो हमारे उत्साही प्रकाशक हैं।

—सीताराम जायसवाल

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

पाठशाला-प्रबन्ध

आवश्यकता—

शिक्षा क्या है और शिक्षण किस प्रकार होना चाहिए, आदि प्रश्नों पर विचार करने के पश्चात् हमें यह देखना है कि शिक्षण कार्य की व्यवस्था किस प्रकार हो सकती है। दूसरे शब्दों में शिक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष को देखने के पश्चात् व्यावहारिक पक्ष को भी देखना चाहिए क्योंकि कोई भी सिद्धान्त अथवा कार्य हो जब तक भलीभाँति कार्यान्वित नहीं किया जाता, तब तक उसकी कोई उपयोगिता नहीं होती। इसी दृष्टि से शिक्षालय-प्रबन्ध का महत्त्व है। पाठशाला जिसमें कि विद्यार्थी पढ़ते हैं, उसका शिक्षा-संगठन में, समाज में क्या स्थान है और वह किस रूप में किन आवश्यकताओं की पूर्ति करती है ? जब हम इन सब प्रश्नों पर विचार करते हैं तो शिक्षालय-प्रबन्ध का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

शिक्षालय और समाज—

समाज में शिक्षालय का वही स्थान है जो कि किसी बड़े नगर में उसके बिजली-घर का होता है। जिस प्रकार बिजली-घर की सहायता से सम्पूर्ण नगर प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार शिक्षालय द्वारा समाज में भी ज्ञान का प्रकाश फैलता है। समाज में शिक्षालय वह स्थान है जहाँ समाज के उद्देश्यों को ध्यान में रख कर शिक्षा दी जाती है। समाज की जो आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्ति का प्रयास शिक्षालय में किया जाता है। उदाहरण के लिए समाज में विभिन्न प्रकार के कार्य करने के लिए योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। ये योग्य व्यक्ति शिक्षालय से ही प्राप्त हो सकते हैं क्यों कि वहाँ ऐसी शिक्षा दी जाती है जिससे

समाज का हित होता है। समाज के लिए योग्य नागरिक आवश्यक हैं, ऐसे शिक्षक, चिकित्सक, शासक, व्यापारी आदि आवश्यक हैं जो समाज के कार्य को चला सकें। अतः शिक्षालय समाज के लिए इन व्यक्तियों को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षालय केवल वह स्थान नहीं है, जहाँ विद्यार्थी केवल पढ़ाये जाते हैं, वरन् शिक्षालय वह स्थान है जो सम्पूर्ण समाज का प्रकाशगृह है। इसीलिए कहा जाता है कि यदि आप किसी समाज की वास्तविक दशा से परिचित होना चाहते हैं, तो उसके शिक्षालयों को देखिए। यदि शिक्षालयों में शिक्षण कार्य भलीभाँति हो रहा है तो समाज की दशा अच्छी होगी, अन्यथा नहीं। दूसरे शब्दों में समाज की अच्छाई और बुराई शिक्षालय में होनेवाले शिक्षण-कार्य पर निर्भर है। यदि शिक्षालय में कार्य भलीभाँति न हो तो धीरे धीरे समाज में ऐसे लोगों की बढ़ती हो जायगी जो अशिक्षित हैं, असभ्य हैं और कामचोर हैं। लेकिन जब शिक्षा भलीभाँति दी जाती है तो समाज के सदस्य योग्य होते हैं, उनमें समाज का हित प्रधान होता है और वे श्रम का मूल्य समझते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज की गति-विधि का संचालन शिक्षालय से होता है और एक बड़ी सीमा तक समाज की उन्नति और अवनति शिक्षालय पर निर्भर होती है। जिस शिक्षालय का समाज के जीवन में इतना महत्त्व हो, उसका संगठन भलीभाँति होनी चाहिए। यदि शिक्षा का संगठन भली-भाँति नहीं होता तो शिक्षालय प्रबन्ध भी ठीक नहीं रहता। इन्हीं कारणों से शिक्षा का संगठन अपेक्षित है।

शिक्षा का संगठन—

समाज में जो शासन-कार्य करता है या जो सरकार बनती है, उसका कार्य शिक्षा का प्रसार भी होता है, और इस कार्य के

लिए एक शिक्षा-विभाग होता है। सरकार की ओर से शिक्षा के कार्य की देख-रेख और नीति निर्धारित करने के लिए एक शिक्षा-मंत्री होता है। शिक्षामंत्री के अन्तर्गत शिक्षा-विभाग होता है और संचालन शिक्षा-संचालक (डाइरेक्टर) द्वारा होता है। उदाहरण के लिए युक्तप्रांत के शिक्षा-संगठन को ले लीजिए। इस प्रांत की सरकार में माननीय श्री सम्पूर्णानंदजी शिक्षामंत्री हैं। शिक्षा-विभाग का संचालन करने के लिए डाइरेक्टर महोदय हैं। इसके अतिरिक्त प्रांत को चार प्रदेशों में बाँट दिया गया है और प्रत्येक प्रदेश एक डिप्टी डाइरेक्टर के अन्तर्गत है। प्रांत में जितने जिले हैं उनमें जिला इन्सपेक्टर है। जिला इन्सपेक्टर की सहायतार्थ डिप्टी इन्सपेक्टर हैं। डिप्टी इन्सपेक्टर के नीचे सब-डिप्टी इन्सपेक्टर हैं। इसके अतिरिक्त डाइरेक्टर को सहायतार्थ एक डिप्टी डाइरेक्टर होता है और दूसरा असिस्टेंट डाइरेक्टर हाता है। डाइरेक्टर का पर्सनल असिस्टेंट होता है। फिर कई स्पेशल अफ़सर होते हैं। जैसे शिक्षा-प्रसार का स्पेशल अफ़सर, हरिजन-शिक्षा का स्पेशल अफ़सर और प्राइमरी शिक्षा का स्पेशल अफ़सर। इस प्रकार के स्पेशल अफ़सर कार्य की आवश्यकतानुसार नियुक्त किए जाते हैं। अतः हम देखते हैं कि शासन की ओर से एक शिक्षा संगठन भी है जो समाज में शिक्षा का प्रबन्ध करता है। इस शिक्षा-संगठन की शिक्षालय एक इकाई है जिसका निरीक्षण और बाह्य संचालन शिक्षा-विभाग करता है।

पाठशाला प्रबन्ध—

लेकिन शिक्षालय का वास्तविक प्रबन्ध शिक्षा-विभाग के बाह्य निरीक्षण और संचालन द्वारा संभव नहीं है क्योंकि शिक्षालय अपने में स्वयं समाज का एक छोटा रूप है। दूसरे शब्दों में समाज का मॉडल शिक्षालय है। अतः शिक्षालय का प्रबन्ध

केवल बाहरी नियंत्रण द्वारा संभव नहीं है। वरन् उसके जो विभिन्न अंग हैं, उनके आपसी सहयोग से उत्पन्न हुई शक्ति शिक्षालय का प्रबन्ध करती है। यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसको भलीभाँति समझने के लिए शिक्षालय के चार मुख्य अंगों की ओर ध्यान देना होगा। ये मुख्य अंग हैं—शिक्षालय का वातावरण, शिक्षण में विद्यार्थियों की रुचि, शिक्षा के विषय और शिक्षक। जब इन चार अंगों में पूर्ण सहयोग होता है, तभी पाठशाला-प्रबन्ध की पूर्णता है। दूसरे शब्दों में पाठशाला-प्रबन्ध का उद्देश्य है शिक्षालय के वातावरण, शिक्षण में विद्यार्थियों की रुचि, शिक्षा के विषय और शिक्षक में वास्तविक सहयोग उत्पन्न करना। ये ही पाठशाला-प्रबन्ध के चार स्तम्भ हैं और इन्हीं के आधार पर पाठशाला-प्रबन्ध का विस्तार होता है। इन प्रमुख अंगों के महत्त्व को अधिक स्पष्ट करने के लिए इनके कार्य के सम्बन्ध में भी दो शब्द आवश्यक हैं।

शिक्षालय का वातावरण—

शिक्षालय के वातावरण का शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वातावरण का प्रभाव कार्य पर पड़ता है। शिक्षा-मनोविज्ञान द्वारा यह भलीभाँति ज्ञात होता है कि बालक के विकास पर परम्परा और परिस्थिति अथवा वातावरण का प्रभाव पड़ता है। परम्परा का प्रभाव तो बालक के जन्म तक प्रधान रहता है। लेकिन जन्म के बाद बालक के जीवन को वातावरण प्रभावित करता है। बालक के विकास पर प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। प्राकृतिक वातावरण में भौगोलिक परिस्थितियों की प्रधानता होती है। देश के जलवायु का प्रभाव भी जीवन पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त उस वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है जिसमें बालक का पालन-पोषण होता है।

मेरा तात्पर्य घर से है। घर के वातावरण में यदि स्वच्छता हुई तो बालक को बीमारी नहीं होगी। माता-पिता की सभ्यता और संस्कृति का भी बालक पर प्रभाव पड़ता है। घर के लोगों के चलने-फिरने, बातचीत करने आदि को बालक ध्यानपूर्वक देखता है और उन्हें सीखता है। यदि घर के वातावरण में शांति, सुख और स्नेह है तो बालक के लिए एक आदर्श वातावरण उपलब्ध होता है। इस प्रकार घर के वातावरण से बालक प्रभावित होता है।

घर के बाहर के वातावरण में भी बालक को जाना पड़ता है। घर के बाद शिक्षालय से बालक का सम्बन्ध होता है। बालक को घर में स्नेह और सुख मिलता है। उसको माता-पिता, भाई-बहिन का प्यार मिलता है। उसकी सभी इच्छायें पूरी होती हैं और उसे किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होती। अतः जब बालक घर से स्कूल में आता है तो वह कुछ वैसे ही प्रकार के व्यवहार की आशा करता है, जैसा कि उसके साथ घर में होता है। वह शिक्षक से उसी स्नेह की आशा करता है जो उसे माता-पिता या भाई से मिलता है। शिक्षालय में बालक उसी स्वतंत्रता की आशा करता है जो उसे घर में मिलती है। इस प्रकार शिक्षालय का वातावरण घर के वातावरण के समान होना चाहिए। दूसरे शब्दों में शिक्षालय का वातावरण ऐसा होना चाहिए जिसमें विभिन्न घरों से आए बालकों के लिए स्वतंत्रता हो, और उन्हें स्नेह मिलता हो। जिस स्कूल के वातावरण में यह बात न होगी उसका वातावरण दूषित होगा और उसमें बालक की शिक्षा भलीभाँति नहीं हो सकती। इसलिए एक आदर्श शिक्षालय के वातावरण में बालक के लिए घर के समान स्वतंत्रता होनी चाहिए और उसे शिक्षक से माता-पिता के समान स्नेह मिलना चाहिए।

शिक्षण में रुचि—

पाठशाला-प्रबन्ध का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है शिक्षण में रुचि उत्पन्न करना। दूसरे शब्दों में शिक्षण की व्यवस्था इस प्रकार की जाय कि बालकों की शिक्षा भलीभाँति हो सके और शिक्षा भलीभाँति तभी होती है जब कि बालकों की रुचि की ओर ध्यान दिया जाय। बालकों की रुचि के लिए उचित शिक्षा प्रणाली के अनुसार शिक्षण और सुन्दर पाठ्य सामग्री की आवश्यकता होती है। इसलिए पाठशाला प्रबन्ध के अन्तर्गत इस बात की ओर भी ध्यान देना होता है कि शिक्षा के जो आधुनिक सिद्धान्त हैं, उनके अनुसार शिक्षा दी जा रही है, अथवा नहीं। जैसा कि हम जानते हैं बालकों की रुचि उसी शिक्षण में होती है जिसमें उन्हें 'खेल' का आनन्द मिलता है और जिसमें उन्हें अधिक भाग लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त शिक्षण में रुचि के लिए प्रयोगिक कार्य की भी आवश्यकता होती है। इसलिए पाठशाला प्रबन्ध के अन्तर्गत उन वस्तुओं का प्रबन्ध भी है जो शिक्षण में रुचि उत्पन्न करती हैं। शिक्षण में रुचि उत्पन्न करने के सम्बन्ध में शिक्षा-सिद्धान्त और शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन से अधिक ज्ञात होता है। अतः शिक्षा-सिद्धान्त और मनोविज्ञान की बातों का यहाँ उल्लेख करना उचित नहीं है।

शिक्षा के विषय—

पाठशाला-प्रबन्ध का तीसरा महत्त्वपूर्ण अंग है शिक्षा के विषयों का संगठन। पाठशाला में शिक्षा के विभिन्न विषयों की शिक्षा किस क्रम से दी जाय और उनके लिए कितना और कब समय दिया जाय आदि प्रश्नों पर विचार करना भी पाठशाला प्रबन्ध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा के जितने भी विषय हैं उनकी अपनी अपनी विशेषता है. और वे प्रत्यक्ष रूप से अलग

हैं। लेकिन प्रत्यक्ष रूप से अलग होते हुए भी उनमें एक आपसी सम्बन्ध है और सब मिल कर शिक्षा के उद्देश्य को पूरा भी करते हैं। यह बात ऐसी है जिसे सदा स्मरण रखना चाहिए। बहुधा पाठशाला-प्रबन्ध में विभिन्न विषयों की शिक्षा का प्रबन्ध करते समय इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। इसका परिणाम यह होता है कि कुछ विषयों पर अधिक ध्यान दिया जाता है और कुछ विषयों को व्यर्थ समझा जाता है। हाँ, यह सच है कि कुछ विषय अध्ययन की दृष्टि से कठिन हैं और उनके लिए उपयुक्त समय की व्यवस्था करनी होती है। पर इतना होते हुए भी पाठशाला-प्रबन्ध की दृष्टि से यह आवश्यक है कि शिक्षा के विषयों की अनेकता में एकता स्थापित की जाय क्योंकि शिक्षा बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए है और वे सभी विषय समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं जो बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में सहायक होते हैं।

शिक्षक—

पाठशाला-प्रबन्ध के सम्बन्ध में ऊपर जिन बातों का उल्लेख किया गया है, उनमें शिक्षक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उदाहरण के लिए शिक्षालय के वातावरण की सुन्दरता और श्रेष्ठता शिक्षक पर निर्भर है। यदि शिक्षक बालक को माता-पिता के समान स्नेह नहीं प्रदान करता तो वह शिक्षालय के वातावरण में स्नेह और सुख प्रस्तुत नहीं कर सकता, और न स्कूल को घर के समान बना सकता है। इसलिए पाठशाला-प्रबन्ध की श्रेष्ठता की दृष्टि से योग्य शिक्षकों द्वारा शिक्षा आवश्यक है। यदि शिक्षण में रुचि उत्पन्न करने की ही बात को लिया जाय तो हमें ज्ञात होगा कि जिस शिक्षक को शिक्षा-सिद्धान्त और शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञान नहीं है, वह किस प्रकार शिक्षण में बालकों की रुचि उत्पन्न कर सकता है। इतना ही नहीं, कुछ शिक्षक ऐसे भी होते हैं जिन्हें

शिक्षा के सिद्धान्तों का ज्ञान है, पर उनमें यह योग्यता नहीं होती कि वे शिक्षा के सिद्धान्तों का प्रयोग भी उचित रूप से कर सकें। यह कहावत कि बंदूक रखना एक बात है, और उसका चलाना दूसरी बात, यहाँ ठीक उतरती है। इसके अतिरिक्त शिक्षक को ऐसा होना चाहिए जो अपने व्यक्तित्व से बालकों को प्रभावित कर सके। जिस व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हुआ है, वह कैसे दूसरे के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है? जिस व्यक्ति का चरित्र अच्छा नहीं है, वह किस प्रकार दूसरे को चरित्रवान् बना सकता है? अतः इन बातों की ओर भी ध्यान देना, पाठशाला-प्रबन्ध की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।

पाठशाला-प्रबन्ध की श्रेष्ठता—

यदि पाठशाला-प्रबन्ध भलीभाँति किया जाय तो उससे शिक्षालय की बाहरी आवश्यकताएँ तो पूरी होती ही हैं, पर इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे लाभ भी होते है जो शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और इन्हीं के ऊपर पाठशाला-प्रबन्ध की श्रेष्ठता निर्भर करती है। किसी शिक्षालय का प्रबन्ध श्रेष्ठ उसी समय होता है जब कि वह (१) बालकों के वैयक्तिक और सामाजिक विकास के अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करता है, (२) इस वातावरण में बालकों के स्वस्थ विकास की ओर ध्यान देता है, (३) बालकों को जीवन की कुशलता प्रदान करता है और (४) व्यवहार, शिष्टाचार, सभ्यता और संस्कृति के अच्छे आदर्श उपस्थित करता है।

इन्हीं चार बातों पर ही किसी शिक्षालय की श्रेष्ठता निर्भर करती है और पाठशाला-प्रबन्ध की उपयोगिता उसी समय सिद्ध होती है जब कि इन बातों की ओर ध्यान दिया जाय और इन्हें व्यवहार में लाया जाय।

प्रधानाध्यापक

व्यक्तित्व—

प्रधानाध्यापक का पाठशाला-प्रबन्ध में वही स्थान होता है जो कि नाव में नाविक का है। जिस प्रकार नौका के यात्री नाविक की कुशलता पर भरोसा रखते हैं और उसी विश्वास के आधार पर पार उतरते हैं, उसी प्रकार शिक्षालय में शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों की शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध प्रधानाध्यापक पर निर्भर करता है। इतना ही नहीं प्रधानाध्यापक शिक्षालय रूपी घर का दीप है। शिक्षालय में प्रधानाध्यापक के चरित्र का प्रकाश फैलता है और उसी प्रकाश से शिक्षालय का सभी कार्य प्रभावित होता है। प्रधानाध्यापक शिक्षालय रूपी समाज का नेता है जो उसे प्रगति पथ पर अग्रसर करता है। उसका व्यक्तित्व प्रभावपूर्ण होता है। उसमें इतने और ऐसे गुण होते हैं जो उसे तो श्रेष्ठ बनाते ही हैं, पर साथ ही उन लोगों को भी श्रेष्ठ बनाते हैं जो उसके सम्पर्क में आते हैं। वास्तव में प्रधानाध्यापक के व्यक्तित्व में अपार आकर्षण होता है। और जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व ऐसा नहीं है, जो दूसरों को आगे बढ़ने के लिए, उन्नति करने के लिए प्रोत्साहित न करे, वह प्रधानाध्यापक के पद के उपयुक्त नहीं है। यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार प्रधानाध्यापक का पद बिना प्रधानाध्यापक के गुणों के होते हुए पा जाता है तो वह शिक्षालय की अवनति करता है। इसीलिए कहा जाता है कि जैसा प्रधानाध्यापक होता है, वैसा ही शिक्षालय भी होता है। यदि प्रधानाध्यापक योग्य है और उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली है तो पाठशाला-प्रबन्ध सभी दृष्टियों से पूर्ण होगा।

आत्मविश्वास—

प्रधानाध्यापक का व्यक्तित्व प्रभावशाली होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसमें आत्मविश्वास होना चाहिए जिससे कि वह निश्चयपूर्वक कार्य कर सके। यदि उसमें आत्मविश्वास है तो वह दूसरों का भी विश्वासपात्र बन सकता है। यह बहुत बड़ी बात है। अपने में विश्वास रखना सरल है, पर दूसरों का अपने में विश्वास होना कठिन है। जब मनुष्य दूसरों का विश्वास-पात्र बनता है तभी उसकी श्रेष्ठता है। इसलिए प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह विश्वासपात्र बने और विश्वासपात्र बनने के लिए सबसे पहले अपने में विश्वास रखना चाहिए। जिस प्रधा-नाध्यापक को अपने में विश्वास होता है, वह सरलतापूर्वक उन सभी कार्यों में विश्वास रखता है जिसे कि वह करता है। इस विश्वास के कारण प्रधानाध्यापक अध्यापन के उत्तरदायित्व को समझता है। वह जानता है कि शिक्षा का उद्देश्य क्या है और शिक्षक के कर्तव्य क्या हैं। इसी प्रकार प्रधानाध्यापक अपने शिक्षालय के अन्य अध्यापकों में विश्वास रखता है और वह अपने विद्यार्थियों का भी विश्वासपात्र होता है। शिक्षालय के विद्यार्थी प्रधानाध्यापक के चरित्र से इतने प्रभावित होते हैं कि वे किसी भी प्रकार उससे ऐसे कार्य होने की संभावना नहीं करते जो कि उनके लिए हानिकारक हो। यह विश्वास वास्तव में प्रधानाध्यापक की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह शिक्षालय का संचालन करता है। इसी विश्वास के बल पर प्रधानाध्यापक शासन करता है। यदि प्रधानाध्यापक में यह क्षमता नहीं है तो वह कभी सफल नहीं हो सकता। इसलिए प्रधानाध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह शिक्षालय के विद्यार्थियों और अध्यापकों का विश्वासपात्र बने और यह तभी संभव है जब कि वह विश्वासपात्र

बनने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा के फलस्वरूप उसके व्यवहार में परिवर्तन होता है।

सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार—

प्रधानाध्यापक को दूसरों का विश्वास उस समय प्राप्त होता है जब कि उसका व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण होता है। व्यवहार के लिए उसे दूसरे को समझना पड़ता है और दूसरों को समझने का सबसे सरल उपाय है मित्रता की भावना रखना। यदि प्रधानाध्यापक अपने सहायक अध्यापकों की बातों को, उनकी कठिनाइयों को समझने का प्रयास करता है तो किसी प्रकार मत-भेद नहीं हो सकता। बहुधा यह होता है कि प्रधानाध्यापक अपने सहायक अध्यापक के दृष्टिकोण को समझ नहीं पाता क्योंकि वह सहायक अध्यापक की कठिनाई को अपने दृष्टिकोण से देखता है। उसका विचार होता है कि जो कठिनाई उसके लिए नहीं है, वह दूसरे के लिए कैसे हो सकती है। अतः इस प्रकार की धारणा के कारण प्रधानाध्यापक अपने सहायक अध्यापक के दृष्टिकोण को नहीं समझ पाता। इसीलिए प्रधानाध्यापक और सहायक अध्यापक में मतभेद होता है। यदि प्रधानाध्यापक सहानुभूति के साथ दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करे और यह देखे कि बिना किसी प्रकार की हानि किए हुए वह किस सीमा तक सहायता प्रदान कर सकता है तो बहुत बड़ी कठिनाई दूर हो जाय। इसलिए प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह सहानु-भूति के साथ सहायक अध्यापकों और विद्यार्थियों के कार्यों को देखे और उनके साथ ऐसा व्यवहार करे जो सहानुभूतिपूर्ण हो। यदि किसी के विरुद्ध कोई कार्य करना भी हो तो उसमें भी सहा-नुभूति हो। उदाहरण के लिए किसी ने नियम के विरुद्ध कार्य किया है तो जहाँ तक संभव हो सके नियम तोड़नेवाले को

सुधारने की कोशिश करनी चाहिए । लेकिन यदि फिर भी उसमें सुधार नहीं होता तो 'विवश' होकर अनुशासन की काररवाई करनी पड़ेगी । अनुशासन की काररवाई के समय दंडित व्यक्ति को यह अनुभव करना चाहिए कि यह जो कुछ हो रहा है, उसका उत्तरदायित्व प्रधानाध्यापक पर नहीं है, वरन् उस पर है। यदि प्रधानाध्यापक सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करता है तो यह संभव है। इसलिए प्रधानाध्यापक द्वारा पाठशाला प्रबन्ध में सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार अत्यन्त आवश्यक है।

सहयोग की भावना—

पाठशाला-प्रबन्ध के लिए सहयोग की भावना आवश्यक है। यह कहावत कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता, पाठशाला-प्रबन्ध में भलीभाँति चरितार्थ होती है। कितना ही योग्य प्रधानाध्यापक क्यो न हो यदि उसे अध्यापकों और विद्यार्थियों का सहयोग प्राप्त नहीं है तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए प्रधानाध्यापक को सहयोग प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। सहयोग प्राप्त करने में सहानुभूति के व्यवहार से बड़ी सहायता मिलती है। इसलिए यदि प्रधानाध्यापक का व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण है तो उसे सहयोग मिल सकता है। लेकिन केवल सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने से ही सहयोग प्राप्त नहीं होता। इसके लिए और भी कुछ करना होता है। इस सम्बन्ध में सबसे पहले प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह शासक की भावना को अपने हृदय में न आने दे, यदि वह यह सोचता है कि वह जो चाहेगा वही होगा तो यह उचित नहीं। इसलिए किसी भी कार्य के सम्बन्ध में नीति निर्धारित करने के पूर्व अपने सहायक अध्यापकों की राय जान लेनी चाहिए। बहुधा सहायक अध्यापक अपनी राय नहीं देते और वे हाँ मे हाँ मिलाते

हैं इसका कारण यह है कि वे प्रधानाध्यापक को एक 'शासक' समझते हैं और यह सोचते हैं कि हमारी राय का क्या मूल्य, प्रधानाध्यापक महोदय जो चाहेंगे, वही होगा। इसलिए वे अपने मन की बात नहीं कहते। अतः प्रधानाध्यापक को इस सम्बन्ध में सावधान रहना चाहिए और अपने सहायक अध्यापकों की असली राय मालूम करनी चाहिए। इसमें प्रधानाध्यापक का मित्रतापूर्ण व्यवहार सहायक होता है। मित्रता के कारण प्रधान और सहायक के बीच जो बनावटी दूरी होती है, वह मिट जाती है। इस प्रकार प्रधानाध्यापक और सहायक अध्यापक में निकट सम्पर्क स्थापित हो जाता है और वे एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हैं।

लोकतंत्र का मार्ग—

लेकिन जब प्रधानाध्यापक अपने सहायक अध्यापकों की राय को मालूम करता है तो उसे कुछ भिन्नता अवश्य दिखाई पड़ती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके विचार दूसरे प्रकार के होते हैं। इसलिए प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह अपने सहायक अध्यापकों की साप्ताहिक बैठक बुलाये और उस बैठक में पाठशाला-प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों को अध्यापकों के सामने रखे और उनकी राय मालूम करे। इस प्रकार जब सब की राय मालूम हो जाय तो बहुमत के अनुसार कार्य करे। लोकतंत्र का मार्ग यही है। लेकिन लोकतंत्र में अल्पमत का भी स्थान है। लोकतंत्र में जब बहुमत के अनुसार कार्य होता है तो अल्पमत की भावनाओं का भी ध्यान रखा जाता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि अल्पमत कार्य को रोक दे। अतः प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह अल्पमत द्वारा भी बहुत से निश्चित कार्य को करावे। वास्तव में लोकतंत्र के अर्थ यह हैं कि जब एक कार्य को बहुमत द्वारा स्वीकार कर लिया गया, तो सभी को बिना किसी मतभेद के

सहयोग प्रदान करना चाहिए। जब कार्य पर विचार हो रहा है, निर्णय किया जा रहा है, उस समय तो मतभेद हो सकता है। लेकिन जब निश्चय हो गया, तब तो सभी को पूरे सहयोग के साथ करना चाहिए। यही लोकतंत्र की सच्ची भावना है। यह दुःख की बात अवश्य है कि हम लोगों में लोकतंत्र की भावना का विकास नहीं हुआ है। इसका कारण विदेशी शासन और शिक्षा की नीति रही है। और इस नीति के अनुसार नियुक्त प्रधानाध्यापक लोकतंत्र के स्थान पर तानाशाही से काम लेते रहे हैं। लेकिन अब बदली हुई परिस्थिति में तानाशाही के स्थान पर लोकतंत्र के अनुसार चलना है। जब प्रधानाध्यापक लोकतंत्र का मार्ग अनुसरण करता है तो उसे वास्तविक सहयोग प्राप्त होता है। लोकतंत्र के मार्ग पर चलने का अर्थ होता है अपने निश्चय के स्थान पर बहुमत के निश्चय को स्वीकार करना और उसके अनुसार कार्य करना। अतः पाठशाला-प्रबन्ध में सहयोग प्राप्त करने के लिए प्रधानाध्यापक को लोकतंत्र के मार्ग पर चलना चाहिए।

तटस्थता—

प्रधानाध्यापक को शिक्षालय-प्रबन्ध में सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से सहयोग प्राप्त होता है और वह अपना कार्य लोकतंत्र की भावना से करता है। पर इतना होते हुए भी प्रधानाध्यापक में एक प्रकार की तटस्थता होनी चाहिए। यहाँ तटस्थता से तात्पर्य उस दृष्टिकोण और व्यवहार से है जिसमें स्वार्थ का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। यदि प्रधानाध्यापक कोई कार्य इस प्रकार करता है जिसमें उसके स्वार्थ की सिद्धि होती है, अथवा उसे किसी तरह का आर्थिक लाभ होता है तो वह अन्य अध्यापकों की दृष्टि में गिर जाता है। उदाहरण के लिए यदि प्रधानाध्यापक

शिक्षालय के चपरासी से अपने घर का काम कराता है या शिक्षालय के लिए खरीदी जानेवाली वस्तुओं में कमीशन लेता है, तो इससे उसके मान में कमी होती है। इसलिए प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह किसी भी व्यक्ति से किसी भी प्रकार का कार्य अपने लिए न करावे। व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे स्वयं प्रयास करना चाहिए और उसमें प्रधानाध्यापक के पद का उपयोग नहीं करना चाहिए। वरन् उसे इन सब के ऊपर रहना चाहिए और इस प्रकार की तटस्थता रखनी चाहिए कि उसके सम्बन्ध में कोई किसी भी प्रकार का संदेह न कर सके।

अध्ययनशीलता—

प्रधानाध्यापक यदि अध्ययनशील है और वह शिक्षा-साहित्य सम्बन्धी नई नई बातों को जानता रहता है तो इसका प्रभाव सहायक अध्यापकों पर भी पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रधानाध्यापक का यह उत्तरदायित्व है कि वह शिक्षालय में श्रेष्ठ पद्धति द्वारा शिक्षण का प्रबन्ध करे। यह कार्य तभी हो सकता है, जब कि प्रधानाध्यापक अध्ययनशील हो। इसलिए प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों का अध्ययन करे और शिक्षालय में पुस्तकालय की व्यवस्था करे। उसके पास अपना भी एक पुस्तकालय होना चाहिए। यह कहा जाता है कि शिक्षित व्यक्ति अपनी आय का दसवाँ भाग पुस्तकों पर खर्च करता है। इसलिए प्रधानाध्यापक को अध्ययनशील बनना चाहिए और सभी विषयों का ज्ञान रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त शिक्षा-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन भी प्रधानाध्यापक को करना चाहिए। इस प्रकार प्रधानाध्यापक को अपनी योग्यता बढ़ानी चाहिए। ऐसा करने से शिक्षालय में शिक्षा एक वातावरण

बन जाता है और सहायक अध्यापक-गण तथा विद्यार्थी अध्ययन की ओर समुचित ध्यान देने लगते हैं। यदि प्रधानाध्यापक अध्ययन की अवहेलना करता है तो शिक्षालय में भी अध्ययन की अवहेलना होती है। ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि शिक्षालय प्रधानाध्यापक के कार्य-प्रणाली से प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए यदि प्रधानाध्यापक ठीक समय से शिक्षालय में आता है तो अन्य लोग भी ठीक समय पर आयेंगे। इसी प्रकार यदि प्रधानाध्यापक ठीक ठीक कपड़े पहनने और बातचीत करने की ओर ध्यान देता है तो अन्य अध्यापकों का भी ध्यान इस ओर जाता है। इसलिए प्रधानाध्यापक जो कार्य करता है उसका अनुकरण शिक्षालय के अन्य व्यक्तियों द्वारा भी होता है। प्रधानाध्यापक की अध्ययन-शीलता भी इसी प्रकार अनुकरणीय होगी और इसके द्वारा शिक्षा-लय का स्तर ऊँचा होगा।

विद्यार्थियों से सम्पर्क—

पाठशाला-प्रबन्ध में प्रधानाध्यापक को विद्यार्थियों से सम्पर्क रखना चाहिए। सम्पर्क रखने से उसे यह स्पष्ट ज्ञात होता रहता है कि विद्यार्थी क्या चाहते हैं और उनकी शिक्षा किस प्रकार चल रही है। यदि प्रधानाध्यापक अपने और विद्यार्थियों के बीच में ऐसा व्यवहार होता है जिससे कि विद्यार्थियों में भय बना रहता है तो यह संभव नहीं हो सकता। इसलिए प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों से सम्पर्क स्थापित करे और उन्हें प्रोत्साहित करे कि वे उसके पास आकर अपने सम्बन्ध में कह सकें। इसके अतिरिक्त यदि प्रधानाध्यापक शिक्षालय के उत्सवों आदि में भाग लेता है तो वह विद्यार्थियों के सम्पर्क में आ सकता है। इस प्रकार वह विद्यार्थियों की वास्तविक स्थिति को समझ सकेगा और आवश्यक सुधार कर सकेगा। लेकिन शिक्षालय

के सभी विद्यार्थियों से सम्पर्क स्थापित होना कठिन है। इसलिए शिक्षा-शास्त्रियों का सुझाव है कि शिक्षालय में विद्यार्थियों की संख्या तीन सौ से अधिक नहीं होनी चाहिए। लेकिन व्यावहारिक रूप से यह अभी संभव नहीं है। अतः शिक्षालयों में विद्यार्थियों की संख्या पाँच-छः सौ तक हो जाती है और ऐसी स्थिति में प्रधानाध्यापक के लिए यह संभव नहीं है कि वह प्रत्येक विद्यार्थी से सम्पर्क स्थापित कर सके। पर इतना तो अवश्य हो सकता है कि वह सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास करे। शिक्षालय के योग्य विद्यार्थियों, अच्छे खिलाड़ियों, स्काउटों व और मानीटरों आदि से प्रधानाध्यापक का सम्पर्क अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार प्रधानाध्यापक विद्यार्थियों के बीच में एक पिता के समान होगा, उसके हृदय में सब के लिए समान रूप से प्रेम होगा और वह सब की उन्नति के लिए कामना करेगा।

प्रधानाध्यापक के कार्य

अध्यापन कार्य—

पाठशाला-प्रबन्ध में प्रधानाध्यापक का क्या स्थान है, इसे देखने के पश्चात् उसके कार्यों पर भी विचार करना आवश्यक है, और इस दृष्टि से प्रधानाध्यापक के लिए अध्यापन काय आवश्यक है। यदि प्रधानाध्यापक अध्यापन कार्य नहीं करता, तो शिक्षालय की शिक्षा में बहुत बड़ी कमी आ जाती है। यह कमी ऐसी होती है जो कठिनाई से पूरी की जा सकती है। इसलिए प्रधानाध्यापक के लिए अध्यापन कार्य आवश्यक है। इसकी पहली आवश्यकता तो इस दृष्टि से है कि इसका प्रभाव अन्य अध्यापकों पर पड़ता है। यदि प्रधानाध्यापक मेहनत कर के पढ़ाता है, तो दूसरे अध्यापक भी भलीभाति तैयारी करके पढ़ाते है। इस तथ्य की सत्यता इसमें है कि जो कार्य हम दूसरे व्यक्तियों से कराना चाहते हैं, उसे पहले स्वयं करना चाहिए। इसीलिये गाँधीजी भी इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते थे और सेवाग्राम के आश्रम में टट्टी उठाने का काम स्वयं करते थे क्योंकि वे चाहते थे कि दूसरे भी भंगी के कार्य को करें। अतः जो प्रधानाध्यापक यह चाहता है कि उसके सहायक अध्यापक शिक्षण-कार्य भलीभाँति करें, उसे स्वय अध्यापन कार्य करना चाहिए।

विशेष-योग्यता—

प्रधानाध्यापक शिक्षालय के अन्य प्रबन्धों के उत्तरदायित्व के कारण सभी विषय नहीं पढ़ा सकता। इसलिए उसे एक या दो ऐसे विषय लेने चाहिए जिनमें उसकी विशेष योग्यता हो। साधारणतः प्रधानाध्यापक को ऐसे विषय चुनने चाहिए जिनका

पाठ्यक्रम में सबसे अधिक महत्त्व हो। वैसे तो जितने भी पाठ्य-विषय हैं, सभी महत्त्वपूर्ण हैं, पर उन विषयों की ओर प्रधानाध्यापक को अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है जो बालक की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। कला और भाषा अभिव्यक्ति के प्रधान माध्यम हैं। इसलिए प्रधानाध्यापक को इन विषयों में से किसी एक का विशेषज्ञ होना चाहिए और उसकी शिक्षा देनी चाहिए। इन विषयों के अतिरिक्त गणित और विज्ञान भी ऐसे विषय हैं जिन्हें समझने में बालकों को कठिनाई होती है। अतः प्रधानाध्यापक इनमे से भी किसी एक की शिक्षा दे सकता है।

अध्यापन की कक्षा—

प्रधानाध्यापक जब अध्यापन कार्य करने चलता है तो उसके सामने कक्षा के चुनाव का प्रश्न आता है। बहुधा प्रधानाध्यापक शिक्षालय की सर्वोच्च कक्षा में शिक्षण-कार्य करते हैं। ऐसा करने में उनका उद्देश्य यह होता है कि जो विद्यार्थी अंतिम परीक्षा में बैठनेवाले हैं, उनको सफलता उच्च श्रेणी की हो। इसलिए अपने शिक्षालय का परीक्षा-फल श्रेष्ठ बनाने का उद्देश्य उनके सामने रहता है और इसी दृष्टि से वे उच्च कक्षा में शिक्षण-कार्य करते हैं। पर व्यावहारिक दृष्टि से प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह शिक्षालय की प्रारम्भिक कक्षाओं में अध्यापन कार्य करे। ऐसा करने से दो लाभ होते हैं। एक तो जो नये बालक शिक्षालय में भर्ती होते हैं, उनसे प्रधानाध्यापक का सम्पर्क स्थापित हो जाता है, और दूसरे प्रारम्भिक शिक्षा ठीक ठीक होती है। इससे नये बालक आरंभ में ही शिक्षा भलीभाँति ग्रहण करते हैं और वे ऊपरी कक्षाओं में जाते जाते अच्छे विद्यार्थी बन जाते हैं। यदि आरंभ में शिक्षा ठीक ठीक नहीं होती तो विद्यार्थी कमजोर हो जाते हैं और परीक्षा में असफल होते हैं। इसीलिए प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह प्रारम्भिक कक्षाओं में अध्यापन कार्य करे।

समय की आवश्यकता—

शिक्षालय में कई कक्षायें होती हैं और प्रधानाध्यापक समय की कमी के कारण प्रारम्भक कक्षा में अथवा उच्च कक्षा में अध्यापन कार्य करता है। वह सभी कक्षाओं के लिए समय नहीं निकाल पाता क्योंकि शिक्षालय-प्रबन्ध के अन्य कार्य भी उसे करने होते हैं। इन सब कार्यों में से शिक्षालय के कार्यालय का कार्य प्रधानाध्यापक का अधिक समय लेता है। यदि प्रधानाध्यापक के कार्यालय में योग्य क्लार्क है तो उसे बड़ी सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त उप-प्रधानाध्यापक के होने से भी प्रधानाध्यापक को समय मिल जाता है। इन सब दृष्टियों से शिक्षालय में कार्यालय सम्बन्धी कार्यों में प्रधानाध्यापक को उप-प्रधानाध्यापक तथा क्लार्क की सहायता मिलनी चाहिए। इससे प्रधानाध्यापक को पर्याप्त समय मिलेगा और वह सप्ताह में एक या दो घंटे प्रत्येक कक्षा में अध्यापन कार्य कर सकेगा ऐसा करने से वह शिक्षालय के सभी विद्यार्थियों से परिचित होगा और शिक्षालय में शिक्षण-कार्य भी भलीभाँति होगा।

निरीक्षण कार्य—

प्रधानाध्यापक का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य निरीक्षण करने का है। शिक्षालय की सम्पूर्ण गति विधि पर प्रधानाध्यापक की दृष्टि होनी चाहिए। शिक्षालय के कार्यक्रम, कार्यालय, विद्यार्थियों के खेल-कूद, उनके छात्रावास का जीवन आदि का निरीक्षण करना प्रधानाध्यापक का कार्य है। उसके सहायक अध्यापक शिक्षण-कार्य किस प्रकार कर रहे हैं, इसका भी निरीक्षण प्रधानाध्यापक को करना चाहिए। पर ऐसा करते समय प्रधानाध्यापक को स्मरण रखना चाहिए कि निरीक्षण करने का उद्देश्य दोष निकालना नहीं है, वरन् दोष को दूर करना है। कुछ प्रधानाध्यापकों की यह प्रवृत्ति

होती है कि वे केवल दोष निकालते हैं, और दोष को दूर करने के विषय में नहीं सोचते। यदि प्रधानाध्यापक केवल दोष ढूँढ़ता है तो शिक्षालय में सहयोग की भावना न होगी और उसके सहायक अध्यापक भी असंतुष्ट रहेंगे। इसलिए निरीक्षण करने का उद्देश्य दोष को दूर करना है। इस सम्बन्ध में पहले सहायक अध्यापकों द्वारा शिक्षण-कार्य के निरीक्षण पर विचार करना चाहिए।

शिक्षण का निरीक्षण—

शिक्षालय में जो शिक्षण-कार्य होता है, उसका निरीक्षण करते समय प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह विभिन्न कक्षाओं में जाकर शिक्षण-कार्य को देखे और साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उसके कक्षा-प्रवेश द्वारा शिक्षण में कोई कठिनाई उपस्थित न हो। यदि अध्यापक और प्रधानाध्यापक में सहयोग की भावना है तो इस प्रकार की कठिनाई उपस्थित न होगी। लेकिन यदि प्रधानाध्यापक के कक्षा में आने के कारण शिक्षण-कार्य करनेवाला अध्यापक अड़चन अनुभव करता है तो प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह कक्षा में न जाय। इस सम्बन्ध में डब्ल्यू० एम० रेबर्न का विचार है कि प्रधानाध्यापक को इस प्रकार का कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए जिससे शिक्षण में कठिनाई उत्पन्न हो। उसे शिक्षक की योग्यता का ध्यान रखना चाहिए। शिक्षक की जितनी योग्यता होगी, वह उसी के अनुसार शिक्षण-कार्य कर सकेगा। अतः प्रधानाध्यापक के लिए यह आवश्यक है कि वह शिक्षक से उसकी योग्यता के अनुसार शिक्षण की माँग करे। यह सर्वथा असंभव है कि एक अध्यापक प्रधानाध्यापक की भाँति कार्य कर सके।

कक्षा-निरीक्षण में प्रधानाध्यापक को यदि शिक्षण-पद्धति में कोई त्रुटि दिखाई पड़े तो उसको चाहिए कि वह कक्षा में शिक्षण

के समय रोक-टोक न करे वरन् बाद में अध्यापक को बुलाकर अपने विचार उसके सामने सुझाव के रूप में रखे और यह न कहे कि उसकी शिक्षण-पद्धति ग़लत है, बल्कि वह चाहता है कि शिक्षण-पद्धति का रूप कुछ इस प्रकार का हो। इस प्रकार जब प्रधानाध्यापक अपने विचार सहायक अध्यापक के सामने रखता है तो वह उसके विचार सहर्ष स्वीकार करता है और अपनी पद्धति में आवश्यक परिवर्तन कर देता है। लेकिन यदि प्रधानाध्यापक शिक्षक से कहता है कि तुम्हें पढ़ाने नहीं आता और तुम किसी काम के नहीं हो, तो अध्यापक के आत्म-सम्मान को ठेस लगती है और उसका सम्बन्ध प्रधानाध्यापक से टूट जाता है। इसलिए प्रधानाध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह निरीक्षण करते समय सहायक अध्यापक के कार्य में हस्तक्षेप न करे और अपने विचार सुझाव के रूप में रखे।

प्रयोगिक कार्य का निरीक्षण—

प्रधानाध्यापक द्वारा निरीक्षण-कार्य का दूसरा अंग है प्रयोगिक कार्य का निरीक्षण। नवीन शिक्षा में प्रयोग और कार्य की अधिकता है। बेसिक शिक्षा का तो यह मूल सिद्धांत है कि शिक्षा किसी दस्तकारी के आधार पर दी जाय। इसके अतिरिक्त नवीन शिक्षा की अन्य प्रणालियों में भी कार्य और प्रयोग की प्रधानता है। इसलिए प्रयोगिक कार्य का निरीक्षण भलीभाँति होना शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लेकिन बहुधा प्रयोगिक कार्य की अवहेलना होती है और जो कुछ कार्य होता है, वह 'दिखाने' की दृष्टि से होता है। उसका शिक्षा की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं होता। कभी कभी तो बाजार से चित्रादि बनवाकर शिक्षालय में रख दिए जाते हैं और उन्हें विद्यार्थियों के काम के रूप में दिखाया जाता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति का घोर विरोध होना

चाहिए और प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों द्वारा बनाई गई वस्तुओं को ही देखे और बाजारू चीज़ों को शिक्षालय में न आने दे। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि शिक्षालय में पाठ्य-सामग्री की कोई वस्तु बाज़ार से न आई हो। पाठ्य-सामग्री बनाई और बनवाई जा सकती है, पर प्रयोगिक कार्य के रूप में बाज़ार की बनी वस्तु दिखाना निंदनीय है।

प्रयोगिक कार्य के निरीक्षण के सम्बन्ध में इस बात के बाद प्रधानाध्यापक को विद्यार्थियों की प्रगति की ओर भी ध्यान देना चाहिए। कभी कभी कक्षा-कार्य का अध्यापक द्वारा संशोधन नहीं होता। इसलिए प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों के लिखित काय और गणित की कापी को देखे। ऐसा करने से कक्षा अध्यापक द्वारा संशोधन नियमित रूप से होता रहता है।

शिक्षालय का निरीक्षण—

प्रधानाध्यापक द्वारा शिक्षालय का निरीक्षण भी होना चाहिए। इस निरीक्षण में वह शिक्षालय के वातावरण की ओर ध्यान देता है। शिक्षालय में स्वच्छता की क्या दशा है. दीवारें साफ़ हैं या नहीं. झाड़ू लगाई जाती है या नहीं कूड़ा ठीक से फेंका जाता है या नहीं, बाग में पानी दिया जाता है या नहीं, विद्यार्थियों के लिए पीने का पानी शुद्ध रखा जाता है या नहीं, पाखाने और पेशाबखाने की सफ़ाई होती है या नहीं आदि बातों पर प्रधानाध्यापक का ध्यान जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त शिक्षालय में प्रत्येक विद्यार्थी साफ़ कपड़े पहन कर आवे, इसकी ओर भी प्रधानाध्यापक को ध्यान देना चाहिए। यदि किसी अध्यापक के कपड़े गंदे हैं तो उसकी ओर उस अध्यापक का ध्यान आकर्षित करना प्रधानाध्यापक का कार्य है।

शिक्षालय का निरीक्षण शिक्षा-विभाग के अधिकारियों द्वारा भी कभी कभी होता है। इस निरीक्षण के निमित्त प्रधानाध्यापक

को चाहिए कि वह शिक्षालय के कार्यक्रम को न बदले। बहुधा यह होता है कि अधिकतर प्रधानाध्यापक अधिकारियों द्वारा निरीक्षण के समय विशेष रूप से तैयारियाँ करते हैं। उस समय विद्यार्थियों तथा अध्यापकों में ऐसी प्रतिक्रिया होती है जो अच्छी नहीं कही जा सकती। अध्यापक मन ही मन प्रधानाध्यापक के इस बनावटी तैयारी पर हँसते हैं और विद्यार्थी भी सोचते हैं कि क्या शिक्षालय को सदा एक दशा में नहीं रखा जा सकता। जो प्रधानाध्यापक सत्यपथ पर चलनेवाला होता है वह अपने शिक्षालय को अच्छी हालत में हमेशा रखता है। चाहे किसी दिन भी कोई अधिकारी आकर शिक्षालय का निरीक्षण कर ले, उसे शिक्षालय अच्छी हालत में मिलेगा। इसलिए प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह अधिकारियों द्वारा निरीक्षण के निमित्त प्रत्येक दिन तैयार रहे और ग़लत तरीके काम में न लावे।

कार्यालय का निरीक्षण—

प्रधानाध्यापक द्वारा कार्यालय निरीक्षण अत्यन्त आवश्यक है। कार्यालय में जो पत्र आते हैं, उनका उत्तर भेजना तथा धन आदि की व्यवस्था करना कार्यालय का प्रधान कार्य है। शिक्षालय में विद्यार्थियों द्वारा जो फीस दी जाती है उनको जमा करना, और खर्च का हिसाब रखना भी आवश्यक है। अतः इन कार्यों की ओर प्रधानाध्यापक का ध्यान जाना चाहिए। यदि शिक्षालय में ग़बन होता है तो उससे प्रधानाध्यापक की लापरवाही का पता चलता है। इसलिए जहाँ तक धन का प्रश्न है उसमें बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। इस सावधानी के लिए रुपये जमा करने का उचित प्रबन्ध और साथ ही उचित व्यय भी आवश्यक है। कार्यालय के क्लार्क के पास अधिक रुपये नहीं रहने चाहिए। रुपये को बैंक में अथवा डाकखाने में जमा करा देना चाहिए। धन के सम्बन्ध में दूसरी सावधानी प्रधानाध्यापक के लिए यह

है कि वह शिक्षालय के रुपयों से अपना खर्च न चलावे। बहुधा यह होता है कि कुछ प्रधानाध्यापक शिक्षालय के हिसाब में अपना व्यक्तिगत हिसाब भी मिला देते हैं। ऐसा करने से बड़ी गड़बड़ी होती है। इसलिए प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह शिक्षालय के धन को अपने से अलग रखे।

कार्यालय में कागज़ पत्रों की उचित व्यवस्था की ओर भी ध्यान जाना चाहिए। क्लार्क द्वारा जो उत्तर तैयार किया जाय, उस पर आँख मूँद कर हस्ताक्षर नहीं करना चाहिए। जो प्रार्थनापत्र आवें, उन पर अपनी राय तुरन्त देनी चाहिए। ऐसा करने से अध्यापक वर्ग और विद्यार्थियों को संतोष होता है कि उनके प्रार्थनापत्र पर तुरन्त ध्यान दिया गया। यदि कोई प्रार्थना-पत्र किसी विशेष कार्य के लिए है और उसे शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर के पास भेजना है तो उस पर अपनी सिफ़ारिश भी लिख देनी चाहिए। बहुधा पुराने विचार के प्रधानाध्यापक प्रार्थनापत्र को 'आगे बढ़ा देते' हैं। इससे कोई लाभ नहीं होता। यदि प्रधानाध्यापक प्रार्थनापत्र में लिखी गई बातों से सहमत है तो उसे अपनी सिफारिश भी करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जहाँ तक हो सके कार्यालय के सभी काग़ज़-पत्रों को यथासमय चलता करना चाहिए। यदि कार्यालय में ढिलाई होती है तो शिक्षालय-प्रबन्ध ठीक ठीक नहीं हो पाता। इसलिए प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह कार्यालय के सभी कार्यों की पूरी देखभाल करे।

साधारण-निरीक्षण—

प्रधानाध्यापक द्वारा साधारण निरीक्षण में विद्यार्थियों के खेल, स्काउटिंग, कसरत तथा साहित्य-परिषद् आदि का प्रमुख स्थान है। शिक्षालय में विद्यार्थियों के लिए खेल की उचित व्यवस्था करना और सब को खेल में सम्मिलित होने के लिए

प्रोत्साहित करना प्रधानाध्यापक का कार्य है। स्काउटिंग द्वारा बालकों के चरित्र का निर्माण किया जा सकता है। अतः प्रधानाध्यापक को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि शिक्षालय का प्रत्येक बालक स्काउट बने। शिक्षालय में वाद-विवाद, कहानी और निबन्ध प्रतियोगिता की ओर भी ध्यान देना चाहिए। तात्पर्य यह है कि शिक्षालय के अतिरिक्त पाठ्यक्रम का कार्य साधारण-निरीक्षण का प्रमुख अंग है।

छात्रावास का निरीक्षण—

छात्रावास की व्यवस्था किस प्रकार होनी चाहिए, यह एक अलग प्रश्न है और इस पर छात्रावास के साथ ही विचार किया जायगा। पर प्रधानाध्यापक के कार्यों की रूपरेखा उपस्थित करते समय छात्रावास के निरीक्षण का उल्लेख आवश्यक है। शिक्षालय में यदि छात्रावास है तो प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों के कमरे की सफ़ाई और भोजन की व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दे। कभी कभी भोजन की जाँच के लिए छात्रावास में भोजन करना भी अच्छा है। यदि प्रधानाध्यापक ऐसा करता है तो छात्रावास के भोजनालय में उचित प्रकार की व्यवस्था होती है और इस प्रकार छात्रावास का जीवन सुखी होता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि यदि छात्रावास में छात्रों के भोजन की व्यवस्था अच्छी है तो छात्रावास का प्रबन्ध भी अच्छा है।

निरीक्षण का लक्ष्य—

प्रधानाध्यापक के कार्यों में निरीक्षण की जो प्रधानता है, उसका लक्ष्य यह नहीं है कि प्रधानाध्यापक पुलिस की भाँति कार्य करे। वरन् उसका कार्य एक डाक्टर के समान है जो रोग की जाँच करता है और उचित उपचार की व्यवस्था करता है।

यदि हम इस बात को याद रखेंगे तो प्रधानाध्यापक के निरीक्षण की उपयोगिता को समझ सकेंगे। प्रधानाध्यापक जब निरीक्षण करता है तो उसके सामने शिक्षा का उद्देश्य लक्ष्य के रूप में होता है। शिक्षा का उद्देश्य बालकों के व्यक्तित्व का विकास समाज के हित की दृष्टि से करना है अतः प्रधानाध्यापक यह देखता है कि शिक्षालय में जो कार्य हो रहा है, उससे इस उद्देश्य की पूर्ति किस सीमा तक हो रही है और उस पूर्ति में जो कमी है, उसे पूरा करने के लिए क्या किया जा सकता है। इस प्रकार प्रधानाध्यापक के निरीक्षण का लक्ष्य शिक्षा का उद्देश्य होता है और उसकी कल्पनाशक्ति उद्देश्य के पूर्ति में लगी रहती है। लेकिन यह कार्य केवल शिक्षालय के निरीक्षण से ही पूरा नहीं हो जाता। इसके लिए विद्यार्थियों और अध्यापकों का सहयोग अपेक्षित है।

संरक्षकों का सहयोग—

पर इन सब से अधिक संरक्षकों का सहयोग चाहिए। शिक्षालय में जितने भी विद्यार्थी पढ़ने आते हैं उनके माता-पिता और संरक्षकों से प्रधानाध्यापक का परिचय होना चाहिए। उनसे परिचय प्राप्त करने के लिए शिक्षालय में 'संरक्षक दिवस' मनाना चाहिए। इस अवसर पर प्रत्येक विद्यार्थी का संरक्षक निमंत्रित होता है और उसके सामने विद्यार्थियों द्वारा मनोरंजन का कार्य-क्रम उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार संरक्षकगण विद्यार्थियों के कार्यक्रम को देखकर प्रभावित और प्रसन्न होते हैं। 'संरक्षक दिवस' के अतिरिक्त प्रधानाध्यापक को चाहिए कि शिक्षालय के अन्य उत्सवों में भी संरक्षकों को आमंत्रित करे। जब संरक्षक शिक्षालय में आवें उस समय उनके साथ अत्यन्त शिष्टता का व्यवहार किया जाय। बहुधा ऐसे संरक्षक भी शिक्षालय में आते

हैं जो स्वयं शिष्टाचार से अपरिचित होते हैं और उनके बातचीत का ढंग भी अच्छा नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में भी प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह स्वयं शिष्टता की सीमा का उल्लंघन न करे और सहानुभूति के साथ संरक्षक से बातचीत करे। इस प्रकार प्रधानाध्यापक का कार्य सफल होगा और शिक्षालय की उन्नति होगी।

अध्यापक

योग्यता—

शिक्षालय में प्रधानाध्यापक के अतिरिक्त अन्य अध्यापक भी होते हैं। अन्य अध्यापक प्रधानाध्यापक के सहायक के रूप में होते हैं। प्रधानाध्यापक जो कार्य अध्यापक को देता है, वह उसे करता है लेकिन इसके पूर्व कि हम अध्यापक द्वारा होनेवाले कार्यों पर विचार करें हमें उसकी योग्यता पर विचार कर लेना चाहिए। उसकी योग्यता पर विचार करने जब हम चलते हैं तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अध्यापक कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि अध्यापक वह व्यक्ति है जो अध्यापन कार्य करता है। अध्यापन कार्य सभी व्यक्तियों द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि अध्यापन कार्य करना भी सीखना होता है। अतः अध्यापन करना जो सीख चुका है, वही व्यक्ति अध्यापक है। अध्यापन कार्य सीखने के साधन क्या हैं और इसका सही तरीका कौन सा है, इसके विस्तार में न जाकर हम केवल यह कहना चाहते हैं कि अध्यापन अनुभव से आता है। जिस व्यक्ति को अध्यापन का जितना अधिक अनुभव होगा, वह उतना ही योग्य अध्यापक होगा।

अनुभव—

अध्यापन के साथ अनुभव का सम्बन्ध है। अनुभव वह क्रिया है जिसमें व्यक्ति स्वयं ज्ञान प्राप्त करता है, उसका अपना अनुभव होता है। उसका अनुभव और ज्ञान पुस्तकों पर आधारित नहीं होता, वरन् वह जो कुछ भी सीखता है, कर के सीखता है, देख के सीखता है। इस प्रकार अध्यापन का आधार

अनुभव है। अनुभव प्राप्त करने के लिए कोई समय निश्चित नहीं है। मनुष्य प्रत्येक क्षण अनुभव प्राप्त कर सकता है यदि उसमें तत्परता और जिज्ञासा हो। किसी भी ज्ञान को प्राप्त करने का सब से सरल साधन अनुभव है। अतः जो व्यक्ति अध्यापक बनना चाहता है, दूसरों को ज्ञान प्रदान करना चाहता है, उसे सबसे पहले अपने को योग्य बनाना चाहिए और योग्य बनने का साधारण साधन है अनुभव करना।

लेकिन हम यह जानते हैं कि आज अनुभव की कितनी कमी है और लोग दूसरों के अनुभवों को बिना अपने अनुभवों के अपना मान बैठे हैं। यदि हम अध्यापक के कार्य की गुरुता की कल्पना करें तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जायगा कि यदि अध्यापक योग्य नहीं है तो उससे समाज की कितनी बड़ी क्षति हो सकती है। हम राष्ट्र के भविष्य को उस अध्यापक के हाथ में छोड़ देते हैं जो अनुभवी नहीं है, और जो कुछ पुस्तकों को पढ़ लेने को ही योग्यता मान बैठा है। बात सच तो यह है कि विद्या पुस्तकों से नहीं मिलती, वरन् जीवनरूपी पुस्तक के अध्ययन से मिलती है, अनुभव से प्राप्त होती है। इसलिए मैं अध्यापक को, एक आदर्श व्यक्ति मानता हूँ। यदि समाज योग्य व्यक्तियों द्वारा अध्यापन कराता है तो शिक्षा भलीभाँति चलती है। नहीं तो शिक्षा के नाम पर अशिक्षा फैलती है। अतः शिक्षालय प्रबन्ध में अध्यापकों का चुनाव करते समय योग्य और अनुभवी शिक्षकों को नियुक्त करना है।

व्यक्तित्व—

अध्यापक का प्रभाव बालकों पर पड़ता है। हम सब अपने अनुभव के आधार पर ज्ञात कर सकते है कि अध्यापक के व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है। पर यहाँ यह आवश्यक है कि हम

व्यक्तित्व को समझ लें। व्यक्तित्व है क्या ? व्यक्तित्व की परिभाषा मनोविज्ञान में चाहे जो कुछ भी हो, पर साधारणतः व्यक्तित्व से हमारा तात्पर्य उस प्रभाव से होता है जो व्यक्ति डालता है। किसी व्यक्ति को जब हम देखते हैं तो प्रभावित होते हैं। उस प्रभाव के फलस्वरूप हम उस व्यक्ति से मिलना पसन्द करते हैं। दूसरे शब्दों में व्यक्तित्व में आकर्षण शक्ति होती है और उन्नति की ओर अग्रसर करने की शक्ति होती है। अतः अच्छा अध्यापकव ही व्यक्ति हो सकता है जिसके व्यक्तित्व का विकास हुआ हो। व्यक्तित्व के विकास की जब हम बात करते हैं तो हमारा तात्पय व्यक्तित्व के पूण विकास से है जिसका कि शारीरिक, मानसिक और नैतिक पक्ष भी है। इसलिए अध्यापक के व्यक्तित्व के इन तीन रूपों पर भी ध्यान रखना चाहिए।

शारीरिक विकास—

यदि अध्यापक का स्वास्थ्य ठीक रहता है तो वह अध्यापन कार्य को भलीभाँति कर पाता है। जो अध्यापक बीमार रहता है, वह कार्य मन लगा कर नहीं कर सकता। इसलिए अध्यापक को स्वस्थ होना चाहिए। इसके अतिरिक्त आधुनिक शिक्षा में खेल और व्यायाम का उचित स्थान है। इसलिए अध्यापक को खेल में भाग लेना चाहिए जिस अध्यापक का शरीर दुर्बल है, वह व्यायाम नहीं कर सकता और न विद्यार्थियों से व्यायाम करा ही सकता है। इसलिए अध्यापक का शारीरिक विकास आवश्यक है। बिना शारीरिक विकास के अध्यापक शिक्षा में खेल और व्यायाम के महत्त्व को नहीं समझ सकता।

मानसिक योग्यता—

व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष मानसिक है। अध्यापक की बुद्धि का

विकास इतना हो कि वह किसी बात को समझ सके। साधारण लोगों का मानसिक विकास किसी बात को समझने तक सीमित रहता है। उन्हें समझाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि पड़ती भी है तो ऐसी नहीं कि किसी का मानसिक विकास करना हो। इसलिए साधारण व्यक्तियों से बढ़कर अध्यापक का मानसिक विकास होना चाहिए, क्योंकि अध्यापक को स्वयं समझना पड़ता है और फिर बालकों के मानसिक विकास के निमित्त समझाना होता है। ऐसा करते समय उसे अध्यापन कला का भी ध्यान रखना होता है। इस प्रकार अध्यापक का मानसिक विकास का अत्यन्त महत्त्व है। यदि अध्यापक शिक्षा के विषयों का ज्ञाता है तो वह शिक्षण-कार्य भलीभाँति कर पाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि अध्यापन कार्य ऐसे व्यक्तियों को सौंपा जाय जो अध्ययनशील हों और जिनका मानसिक विकास हो चुका हो।

नैतिक बल—

व्यक्तित्व का तीसरा पक्ष नैतिक है। नैतिकता से हमारा तात्पर्य मनुष्य की अच्छी प्रवृत्तियों से है। यदि मनुष्य मनुष्योचित व्यवहार करने जानता है तो वह नैतिक है। दैनिक जीवन में नैतिकता अच्छे चरित्र में दिखाई पड़ती है। जो व्यक्ति सच बोलता है, दूसरों को कष्ट नहीं देता, न्याय का समर्थन करता है और दूसरों की सेवा और सहायता के लिए तत्पर रहता है, वह नैतिक है। अतः अध्यापक में नैतिक गुण होने चाहिए क्योंकि जिस अध्यापक में नैतिक गुण नहीं हैं वह विद्यार्थियों का नैतिक विकास नहीं कर सकता। इसलिए अध्यापक की योग्यता में हमें नैतिकता को प्रमुख स्थान देना होगा। जब तक अध्यापक में वे सब गुण न होंगे जिन्हें हम बालकों में विकसित करना चाहते हैं,

तब तक हमारी शिक्षा सफल न होगी। अतः शिक्षालय संगठन में अध्यापक के वैयक्तिक गुणों और योग्यता का प्रमुख स्थान है। जिस बात की आशा हम विद्यार्थियों से करते हैं, वे बातें पहले अध्यापक में होनी चाहिए क्योंकि अंधा दूसरों को रास्ता नहीं बता सकता। इसलिए जो व्यक्ति अध्यापक बनना चाहता है उसे चाहिए कि वह पहले अपने में उन सभी गुणों को उत्पन्न करे जो कि विद्यार्थियों के लिए आवश्यक हैं और अधिकारियों को भी चाहिए कि अध्यापकों का चुनाव करते समय वे केवल काग़ज़ी योग्यता न देखें, वरन् उसके व्यक्तित्व को भी देखें जिसका कि प्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ेगा। इसी दृष्टि से आजकल चुनाव के मनोवैज्ञानिक ढंग मालूम किए गये हैं। सेना में मनोवैज्ञानिक ढंग से ही चुनाव होता है। इस तरीके से चुनाव करने में हमें योग्य अध्यापक मिल सकेंगे। इसलिए शिक्षालय में जब किसी भी अध्यापक की नियुक्ति हो तो उस समय उसकी वास्तविक योग्यता की भलीभाँति जाँच की जाय।

नियुक्ति—

अध्यापक की नियुक्ति साधारणतः दो प्रकार के शिक्षालयों में होती है। एक तो राजकीय शिक्षालय जिनका संचालन सरकार का शिक्षा-विभाग करता है और दूसरे जन-संस्थाओं द्वारा संचालित शिक्षालय। सरकारी शिक्षालयों के लिए सरकार पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा अध्यापकों का चुनाव करती है। सरकारी चुनाव में काग़ज़ी योग्यता की प्रधानता होती है और व्यक्तित्व की जाँच के लिए कमीशन कुछ प्रश्न पूछता है जो कि जाँच का मनोवैज्ञानिक तरीका नहीं है। कमीशन द्वारा अध्यापकों के इस चुनाव में जो त्रुटियाँ हैं, उन्हें दूर करने का प्रयास अभी तक नहीं किया गया है।

जन-संस्थाओं द्वारा संचालित शिक्षालयों में नियुक्ति प्रबन्ध-समिति द्वारा की जाती है। बहुधा देखा गया है कि इस प्रकार की नियुक्तियों में प्रधानाध्यापक से अधिक प्रबन्धक का हाथ रहता है। ऐसा नहीं होना चाहिए। प्रधानाध्यापक शिक्षालय की वास्तविक आवश्यकता को प्रबन्धक से अधिक समझता है। इसलिए शिक्षालय के हित की दृष्टि से अध्यापक की नियुक्ति में प्रधानाध्यापक की राय ली जानी चाहिए और प्रधानाध्यापक जिस अध्यापक को चुने उसी को नियुक्त करना चाहिए।

परीक्षण काल—

नियुक्ति अच्छी हुई अथवा नहीं, इसके जाँच की अवधि (Probation period) भी निश्चित करना चाहिए। साधारणत: जाँच की अवधि एक वर्ष होनी चाहिए। इस एक वर्ष की अवधि में अध्यापक और प्रधानाध्यापक एक-दूसरे को भलीभाँति समझ पाते हैं। नये अध्यापक को शिक्षालय प्रबन्ध का वास्तविक ज्ञान हो जाता है और वह निश्चित कर पाता है कि वह टिक सकेगा या नहीं, क्योंकि जन-संस्थाओं द्वारा संचालित शिक्षालयों में बहुधा अध्यापकों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता। उन्हें वह सम्मान भी नहीं मिलता जो कि एक साधारण व्यक्ति को मिलना चाहिए। कहीं कहीं तो ऐसा होता है कि प्रधानाध्यापक और अध्यापक प्रबन्धक की जी हुजूरी में लगे रहते हैं। उनका मुख्य कार्य स्कूल के सेक्रेटरी की चापलूसी करना हो जाता है और स्कूल की पढ़ाई चौपट हो जाती है। इसलिए अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह इस चक्कर में न पड़े। यदि वह देखता है कि शिक्षालय में शिक्षा का वातावरण नहीं है और प्रधानाध्यापक प्रबन्धक के घर का पानी भरता है तो उसे उस स्कूल को छोड़ देना चाहिए।

अध्यापक और प्रधानाध्यापक—

अध्यापक और प्रधानाध्यापक का घनिष्ट सम्बन्ध है। अध्यापक का कार्य ठीक प्रकार से चल रहा है, अथवा नहीं इसकी जाँच प्रधानाध्यापक करता है। लेकिन यह कार्य तभी संभव हो सकता है जब कि अध्यापक और प्रधानाध्यापक में विचार-साम्य हो और एक-दूसरे का सम्बन्ध उचित रूप से बना हो। यदि अध्यापक और प्रधानाध्यापक के बीच मनमुटाव है या किसी प्रकार का मतभेद है तो एक-दूसरे में सहयोग न होगा और न एक दूसरे को समझ सकेगा। अतः अध्यापक और प्रधानाध्यापक का सम्बन्ध सहयोग की भावना पर होना चाहिए। यह सहयोग अध्यापक और प्रधानाध्यापक दोनों की समान इच्छा पर निर्भर है। यदि अध्यापक सहयोग करना चाहता है पर प्रधानाध्यापक की ओर से ऐसी कोई वस्तु नहीं है तो अध्यापक के लिए शिक्षालय में कार्य करना कठिन हो जायगा। इस प्रकार जब नया अध्यापक शिक्षालय में आता है तो उसे अनेक बातों को समझना पड़ता है और इस दृष्टि से परीक्षण-काल वांछनीय होता है।

अध्यापक का कार्य—

अध्यापक के कार्य की रूपरेखा प्रधानाध्यापक निर्धारित करता है। नया अध्यापक ट्रेनिंग कालेज या नार्मल स्कूल में सभी बातें नहीं सीख लेता जो कि अध्यापक के लिए आवश्यक हैं। अतः उसके परीक्षण-काल में प्रधानाध्यापक अध्यापन की शिक्षा देता रहता है। प्रधानाध्यापक कक्षा में जाकर अध्यापक के पढ़ाने के तरीके को देखता है और यदि उसमें कुछ त्रुटि हुई तो अपने सुझाव देता है। इसके लिए अच्छा यह होता है कि जिस प्रकार ट्रेनिंग कालेज में समालोचक के लिए समालोचना की एक पुस्तिका कक्षा के कोने में रखी रहती है, उसी प्रकार की एक कापी प्रधानाध्यापक के

लिए भी रख देनी चाहिए, जिससे कि वह अपने सुझाव दे सके। यह अध्यापक और प्रधानाध्यापक दोनों के लिए अच्छा नहीं मालूम होता कि कक्षा में विद्यार्थियों के सामने पढ़ाई को रोक दिया जाय और त्रुटियाँ बताई जाँय। इसलिए अध्यापक का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रधानाध्यापक लिखित रूप में अथवा अपने कार्यालय में अध्यापक को बुलाकर सुझाव दे सकता है।

विचारशक्ति की वृद्धि—

अध्यापक का कार्य विद्यार्थियों को शिक्षा देना है। वह किस प्रकार दे रहा है, इसकी देखभाल प्रधानाध्यापक करता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अध्यापक सभी बातों के लिए प्रधानाध्यापक पर निर्भर रहे। उसे अपनी आरम्भशक्ति से काम लेना चाहिए और विद्यार्थियों की वास्तविक आवश्यकताओं को समझना चाहिए। ऐसा करते समय उसे यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के विकास के लिए है। यह व्यक्तित्व का विकास केवल पुस्तक के रटने से नहीं हो सकता, वरन् विचारशक्ति और कार्यशक्ति से हो सकता है। अतः अध्यापक को चाहिए कि वह शिक्षा का कार्य इस प्रकार करे कि विद्यार्थियों में विद्या के प्रति रुचि उत्पन्न हो और उनकी विचारशक्ति का विकास हो। वे किसी भी बात को आँख मूँद कर स्वीकार न कर लें, वरन् तर्क करके और अच्छी तरह समझ कर स्वीकार करें। यह तभी संभव है जब कि अध्यापक इस बात पर ध्यान देगा। अतः अध्यापक का यह कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थियों की विचारशक्ति की वृद्धि की ओर ध्यान दे।

चरित्र का निर्माण—

अध्यापक के कार्य में विद्यार्थियों का चरित्र-निर्माण भी सम्मिलित है। अध्यापक का कर्त्तव्य केवल इतना ही नहीं है कि वह

किसी विद्यार्थी में केवल बौद्धिक योग्यता उत्पन्न कर दे, वरन् उसके चरित्र का निर्माण भी करे। यह चरित्र का निर्माण आदतों के सुधार से आरम्भ किया जा सकता है। विद्यार्थियों में कुछ गंदी आदतें होती हैं। यदि शिक्षक उनका ध्यान एक-दो बार उन आदतों की ओर ले जाता है तो वे सावधान हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त अध्यापक को यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जो कुछ वह करता है, उसका अनुकरण विद्यार्थी भी करते हैं। उदाहरण के लिए कक्षा में सिगरेट पीना अथवा पान खाना अध्यापक के लिए उचित नहीं है। इसका प्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ता है और वे भी सिगरेट पीना शुरू कर देते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि अध्यापक कोई ऐसा काम न करें जिसका बुरा प्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ता हो। और यह सच है कि विद्यार्थियों का चरित्र-निर्माण तभी हो सकता है जब कि अध्यापक का चरित्र अच्छा हो। यदि अध्यापक चरित्रवान है तो उसकी बातों का प्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ता है। अतः चरित्र-निर्माण के लिए अध्यापक को अपना चरित्र निर्मल रखना चाहिए।

साधारण और विशेष अध्यापक—

अध्यापक के साधारण कार्यों के उल्लेख के पश्चात् अब शिक्षा के विषयों के अनुसार उसकी योग्यता पर विचार करना है। शिक्षालय में विविध विषय पढ़ाये जाते हैं। अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या अध्यापक सभी विषयों का ज्ञाता हो, अथवा वह किसी एक विषय का विशेषज्ञ हो। प्रश्न विचारणीय है। इस सम्बन्ध में की साधारण धारणा यह है कि उच्च कक्षाओं में विशेषज्ञ अध्यापक होने चाहिए क्योंकि उच्च कक्षाओं में शिक्षण का स्तर ऊँचा होता है और अध्यापक से यह आशा की जाती है कि वह उस विषय का विशेषज्ञ होगा जिसकी कि शिक्षा वह दे

रहा है। यदि अध्यापक विशेषज्ञ नहीं होता तो शिक्षा भलीभाँति नहीं हो पाती। प्रारम्भिक और माध्यमिक कक्षाओं के अध्यापकों को विशेषज्ञ होने की आवश्यकता नहीं है। समन्वय की दृष्टि से एक अध्यापक को सभी विषयों का ज्ञान आवश्यक है। यदि अध्यापक एक ही विषय को जानता है तो वह समन्वय में सफल नहीं हो सकता। इसलिए अध्यापक को सभी विषयों का ज्ञान होना चाहिए। इस विचार के माननेवाले एक कक्षा को एक अध्यापक के अधीन कर देते हैं। और अध्यापक एक कक्षा के विद्यार्थियों को सभी विषय पढ़ाता है। पर व्यावहारिक रूप से देखा गया है कि यदि एक ही अध्यापक के अधीन एक कक्षा के सभी विषयों का शिक्षण सौंप दिया जाय तो रुचि का अभाव हो जाता है। कक्षा के विद्यार्थी भी एक ही अध्यापक की बात सुनते सुनते थक जाते हैं। इसलिए शिक्षालय में साधारणतः एक अध्यापक को दो विषय पढ़ाना चाहिए। विज्ञान का अध्यापक गणित की शिक्षा दे सकता है। इसके अतिरिक्त भाषा का अध्यापक संस्कृत की शिक्षा दे सकता है। इस प्रकार का निर्णय अध्यापकों की योग्यता और संख्या को देखते हुए किया जा सकता है।

विशेषज्ञ की रुचि—

लेकिन यदि केवल विचार की दृष्टि से विशेषज्ञ अध्यापक का प्रश्न उठाया जाय तो उसके पक्ष और विपक्ष में तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं। पहला तर्क पक्ष में यह है कि विशेषज्ञ अध्यापक जितनी योग्यता अपने विषय की रखता है, उतना कक्षा-शिक्षक नहीं रख सकता क्योंकि उसे सभी विषयों के अध्ययन में समय देना पड़ता है। साधारण अध्यापक सभी विषयों का शिक्षक होने के कारण किसी एक विषय में रुचि नहीं रख सकता। लेकिन

जो अध्यापक एक विषय का विशेष अध्ययन करके पढ़ाता है, उसकी रुचि विषय की प्रगति में होती है। वह स्कूल की सभी कक्षाओं में अपने विषय की प्रगति को देखता है और विचार करता है कि किस प्रकार एक कक्षा की शिक्षा दी जाय कि विद्यार्थियों का ज्ञान बढ़ता जाय। इस प्रकार विशेषज्ञ अध्यापक विषय में रुचि के कारण शिक्षण-कार्य सफलतापूर्वक करता है।

इसके विपक्ष में यह कहा जाता है कि जिस अध्यापक की रुचि केवल एक विषय में होती है, वह किसी अन्य विषय की शिक्षा नहीं प्रदान कर सकता। अतः शिक्षा जिसका कि सम्बन्ध सभी विषयों से है और जो समन्वय के आधार पर होनी चाहिए विशेषज्ञ अध्यापक द्वारा प्रदान नहीं की जा सकती। यदि शिक्षालय में प्रत्येक विषय के लिए अलग अलग अध्यापक होंगे तो उनमें आपसी सहयोग न होगा और वे विद्यार्थियों को केवल अपने विषय के अध्ययन पर जोर देंगे। इतिहास का अध्यापक यह चाहेगा कि विद्यार्थी केवल इतिहास का कार्य करें और भूगोल का अध्यापक चाहेगा कि विद्यार्थी भूगोल में इतिहास से बढ़कर काम करें। इसका परिणाम यह होता है कि शिक्षा समन्वित और संतुलित नहीं हो पाती।

शिक्षा-पद्धति—

विशेषज्ञ अध्यापक के पक्ष में दूसरी बात यह है कि वह अपने विषय की शिक्षण पद्धति का ज्ञाता होता है। विषय की शिक्षण पद्धति का ज्ञान होने से वह शिक्षा सुचारु रूप से दे पाता है। लेकिन जो अध्यापक केवल विषय का ज्ञान रखता है, लेकिन उसकी शिक्षण-पद्धति में दक्ष नहीं है, वह शिक्षा सुचारु रूप से नहीं दे सकता। अतः विशेषज्ञ अध्यापक के होने से इस प्रकार की कठिनाई उपस्थित नहीं होती।

विपक्षियों को यह तर्क अधिक महत्त्व का नहीं प्रतीत होता क्योंकि उनका विचार है कि अध्यापक यदि अध्यापन-कला को जानता है तो वह किसी भी विषय की शिक्षा दे सकता है। पर प्रश्न अध्यापन-कला का है। यदि वह अध्यापन-कला जानता है तो उसे कठिनाई नहीं होनी चाहिए। पर यह तो स्पष्ट है कि उसमें विशेषज्ञ की कुशलता न होगी।

विद्यार्थियों से सम्पर्क—

विशेषज्ञ अध्यापक के द्वारा एक विषय की शिक्षा होने के पक्ष में तीसरा तर्क यह है कि इससे अध्यापक और विद्यार्थियों के बीच सम्पर्क अधिक दिनों तक बना रहता है। एक विषय का विशेषज्ञ अध्यापक एक कक्षा के विद्यार्थियों के साथ आगे की कक्षाओं में भी जाता है। उदाहरण के लिए यदि विशेषज्ञ अध्यापक इस वर्ष कक्षा पाँच के विद्यार्थियों को पढ़ा रहा है तो अगले वर्ष जब कक्षा पाँच के विद्यार्थी कक्षा ६ में जायेंगे तो भी वह उन्हें पढ़ाएगा। इसी प्रकार इन विद्यार्थियों से उसका सम्बन्ध कई वर्षों तक रहता है। अध्यापक और विद्यार्थियों में सम्पर्क की आवश्यकता सभी स्वीकार करते है। सम्पर्क से विद्यार्थियों की अनेक कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और उन पर अध्यापक का भी प्रभाव पड़ता है। यदि विशेषज्ञ अध्यापक नहीं होता तो साधारणत: एक अध्यापक से विद्यार्थियों का सम्बन्ध केवल एक वर्ष तक ही रहता है और इस अवधि में यह संभव नहीं है कि अध्यापक और विद्यार्थियों में अच्छा सम्पर्क स्थापित हो सके।

इसके विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि सम्पर्क की आवश्यकता है और यह सम्पर्क केवल विशेषज्ञ अध्यापकों द्वारा ही नहीं हो सकता। इसका साधन खेल और अतिरिक्त

पाठ्यक्रम के कार्य भी हैं। शिक्षालय में यदि उत्सव और खेल आदि समय समय पर होते रहते हैं तो अध्यापक और विद्यार्थियों में सम्पर्क स्थापित होता रहता है।

नवीन शिक्षा-प्रणाली में विशेषज्ञ—

नवीन शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा इस प्रकार देने का प्रबंध करते हैं कि अध्यापक व्यक्तिगत ध्यान विद्यार्थी की ओर दे सके। सामूहिक रूप से शिक्षा देने में अध्यापक व्यक्तिगत ध्यान नहीं दे पाता। अतः नवीन शिक्षा प्रणाली में विशेषज्ञ अध्यापक का होना अनिवार्य हो जाता है। डाल्टन पद्धति और प्रोजेक्ट पद्धति द्वारा चलनेवाली शिक्षा मे विशेषज्ञ अध्यापक की आवश्यकता होती है। इसलिए शिक्षालय में विशेषज्ञ अध्यापक होना चाहिए।

विशेषज्ञ अध्यापक के पक्ष में ऊपर जो तर्क दिए गये हैं, उनके आधार पर तथा अनुभव से भी अधिकतर शिक्षाशास्त्री विशेषज्ञ अध्यापकों के पक्ष मे हैं। लेकिन कक्षा का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए उनका सुझाव यह है कि एक अध्यापक एक कक्षा का कक्षा-अध्यापक नियुक्त कर दिया जाय जिससे कि फ़ीस आदि की व्यवस्था भलीभाँति हो सके। इस प्रकार एक स्कूल में विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ अध्यापकों के साथ कक्षा-अध्यापक की भी व्यवस्था हो जाती है।

अध्यापक समिति—

शिक्षालय में कार्य की सुविधा की दृष्टि से अध्यापक समिति का होना आवश्यक है। अध्यापक समिति के होने से एक अध्यापक दूसरे अध्यापक की बातों को भलीभाँति समझ सकता है और अपने सुझाव दे सकता है। विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ अध्यापक समय-विभाग चक्र आदि सम्बन्धी बातों पर एक साथ

बैठ कर विचार कर सकते हैं। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षालय में एक अध्यापक समिति हो। उस समिति में किसी स्थायी सभापति के होने की आवश्यकता नहीं है। केवल मंत्री होना चाहिए जो कि समिति की बैठक बुलाएगा। जब समिति की बैठक हो तो उपस्थित सदस्यों में से किसी एक को सभापति बना देना चाहिए। इस प्रकार सभी को समिति का अध्यक्ष बनने का अवसर मिलता है।

अध्यापक समिति में प्रधानाध्यापक को भी होना चाहिए। ऐसा होने से अध्यापकों और प्रधानाध्यापक में सहयोग बना रहता है। प्रधानाध्यापक अपने दृष्टिकोण को समिति में उपस्थित करता है और वह उन बातों को भी रखता है जो कि अध्यापकों के लिए हैं। समिति की बैठक में एक अध्यापक भी प्रधानाध्यापक तथा अन्य अध्यापकों के सम्मुख अपने विचार रखता है। इस प्रकार विचारों के आदान-प्रदान से किसी प्रकार के मतभेद का अवसर नहीं आता।

अध्यापक समिति में शिक्षालय-प्रबन्ध की अन्य बातें भी रखी जा सकती हैं। सफल प्रधानाध्यापक वही होता है जो कि अध्यापक समिति के अनुसार कार्य करता है। अतः शिक्षालय-प्रबन्ध अध्यापक समिति के सहयोग में होना चाहिए। अध्यापक समिति की बैठक में विषयों का वितरण, समय-विभाग चक्र का निर्णय और अन्य बातों पर विचार होते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त अध्यापक वर्ग के बौद्धिक स्तर को ऊंचा करने के लिए शिक्षा की नवीन पद्धतियों पर निबन्धादि पढ़े जाने चाहिए। इस प्रकार अध्यापक समिति केवल शिक्षालय प्रबन्ध की साधन ही न होगी, वरन् उसका एक सांस्कृतिक पक्ष भी होगा। उसके द्वारा अध्यापक शिक्षालय की उन्नति में पूर्ण रूप से सहायक हो सकेंगे।

विद्यार्थी-समुदाय

सामुदायिक-मनोविज्ञान—

शिक्षालय में विद्यार्थियों का समुदाय होता है। प्रधानाध्यापक को विद्यार्थी समुदाय के साथ इस प्रकार व्यवहार करना पड़ता है कि शिक्षालय में अनुशासन और उन्नति हो। कक्षा में अध्यापक के सामने भी विद्यार्थी समुदाय उपस्थित होता है। वह भी कक्षा-प्रबन्ध इस प्रकार रखना चाहता है कि अनुशासन रहे और शिक्षण भलीभाँति हो। लेकिन यह कार्य सुचारु रूप से तब तक नहीं हो सकता जब तक कि प्रधानाध्यापक और अध्यापक वर्ग विद्यार्थी-समुदाय के मनोविज्ञान से अपरिचित हैं। सामुदायिक मनोविज्ञान (Group Psychology) के ज्ञान से शिक्षालय के अनुशासन में सहायता मिलती है और शिक्षण-कार्य भी भली-भाँति हो पाता है। इन सब दृष्टियों से पाठशाला-प्रबन्ध में सामुदायिक मनोविज्ञान पर विचार आवश्यक है।

सामुदायिक मनोविज्ञान के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि किसी समुदाय में जब व्यक्ति होता है तो उसकी व्यक्तिगत प्रवृत्तियाँ समुदाय के अनुसार कार्य करती हैं। समुदाय की मनोवैज्ञानिक शक्ति एक व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक शक्ति से कम होती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ले बान (Le Bon) ने अपनी पुस्तक 'क्राउड' (Crowd) में भीड़ के मनोविज्ञान का विश्लेषण किया है और इस विश्लेषण द्वारा आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भीड़ की बुद्धि एक व्यक्ति से बहुत ही कम होती है। जब व्यक्ति भीड़ में होता है तब वह व्यक्तिगत बुद्धि का उपयोग नहीं करता, वरन् वह वैसा ही कार्य करता है जैसा कि दूसरे लोग करते हैं।

उदाहरण के लिए बाजार में लोग आ-जा रहे हैं, और लोगों के कारण एक भीड़ सी लगी है। लेकिन उस समय सामुदायिक मनोविज्ञान कार्य नहीं करता क्योंकि सभी लोग अपने काम में लगे हैं। लेकिन जब सड़क पर मोटर से एक आदमी दब जाता है तब सभी का ध्यान उस ओर आकर्षित हो जाता है और एक भीड़ जमा हो जाती है। उस समय भीड़ में जितने भी व्यक्ति इकट्ठा होते हैं उनमें सामान्य प्रवृत्तियाँ कार्य करने लगती हैं। अनुकरण करके वे इकट्ठे हो जाते हैं, सहानुभूति भी उनमें होती है और एक प्रकार के संकेत (Suggestion) से वे कार्य करने लगते हैं।

सामाजिक समुदाय—

मनोवैज्ञानिकों ने सामुदायिक मनोविज्ञान के आधार पर समाज में विभिन्न प्रकार के समुदायों का अध्ययन और वर्गीकरण किया है। मैग्डूगल के अनुसार सामाजिक समुदाय दो प्रकार के होते हैं—स्वाभाविक और बनावटी अथवा कृत्रिम। स्वाभाविक सामाजिक समुदाय भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो भौगोलिक परिस्थिति के आधार पर बनता है और दूसरा पारिवारिक सम्बन्ध और रिश्तेदारी के कारण। बनावटी सामाजिक समुदाय भी तीन प्रकार के होते हैं। एक तो उद्देश्य (Purpose) के अनुसार बनता है जैसे सामाजिक और औद्योगिक संगठन आदि, दूसरा परम्परा (Tradition) के आधार पर बनता है और तीसरा कृत्रिम सामाजिक समुदाय उद्देश्य और परम्परा का मिश्रित रूप होता है। इस प्रकार समाज में विभिन्न प्रकार के समुदाय होते हैं।

दूसरे प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ड्रेवर महोदय मैग्डूगल के वर्गीकरण को नहीं मानते और वे अपने मत के अनुसार सामाजिक समुदाय के तीन स्तर निश्चित करते हैं। पहले स्तर के समुदाय में

सामान्य प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है और इस स्तर पर जो समुदाय बनता है वह 'भीड़' है। 'भीड़' में भेड़ों की तरह काम करने की प्रवृत्ति होती है। दूसरा स्तर समुदाय का उस समय होता है जब कि कोई उद्देश्य सामने होता है। इस स्तर के समुदाय को हम सामाजिक संस्थाओं और क्लबों में पाते हैं। सामाजिक समुदाय के तीसरे स्तर पर विचार की प्रधानता होती है। इस स्तर पर जो समुदाय बनता है वह समाज मे जातियों के रूप में है। इस प्रकार ड्रेवर ने समुदाय के तीन भेद किए:— भीड़, सामाजिक संस्था और जातीय जीवन। समुदाय के इन तीन रूपों में जातीय जीवन सबसे श्रेष्ठ है, इसमें कोई सन्देह नहीं। शिक्षालय में जब विद्यार्थी आते हैं तब उनसे एक 'भीड़' की प्रवृत्ति होती है क्योंकि उनके सामने ऐसी कोई बात नहीं होती जो कि उनमें 'सामाजिक संस्था' की भावना उत्पन्न कर सके और उसका विकास करके 'जातीय जीवन' तक ले जाय। शिक्षालय के विद्यार्थी समुदाय का संगठन भलीभाँति तभी हो सकता है जब कि प्रधानाध्यापक और अध्यापक इस समस्या को मनोवैज्ञानिक नियमानुसार सुलझाने की कोशिश करें।

विद्यार्थी-समुदाय का संगठन—

अतः विद्यार्थी समुदाय के संगठन की दृष्टि से पहले हमें उन मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं पर विचार करना है जो कि संगठित समुदाय का निर्माण करती हैं। इस सम्बन्ध में पहली आवश्यकता तो यह है कि जिन व्यक्तियों का समुदाय बनता हो उनका आपसी सम्बन्ध अधिक दिनों का हो। यदि लोग थोड़े समय के लिए मिलते हैं तो उनमें सामाजिक समुदाय का विकास संभव नहीं हो सकता। अतः सामाजिक समुदाय के संगठन के लिए सदस्यों का अधिक समय तक बना रहना आवश्यक है।

जब सदस्यों द्वारा कोई संस्था संगठित हो जाती है तब उसमें नये सदस्य भी आते हैं और कुछ पुराने सदस्य हटते भी जाते हैं। इस प्रकार संस्था चलती रहती है। अतः सामाजिक समुदाय की पहली आवश्यकता 'समय' है।

सामुदायिक चेतना—

सामाजिक समुदाय की दूसरी आवश्यकता सामुदायिक चेतना है। सामुदायिक चेतना के लिए किसी उद्देश्य और लक्ष्य का होना आवश्यक है। किसी उद्देश्य को लेकर जब मिलते हैं तब उनमे एक प्रकार की भावना कार्य करती है और उनके कार्य सामाजिक समुदाय के संगठन को सबल बनाते हैं।

सामुदायिक सम्पर्क—

समाज के विभिन्न समुदायों में सम्पर्क होने से भी समुदाय के संगठन में शक्ति आती है। यदि एक शिक्षालय के विद्यार्थी दूसरे शिक्षालय के विद्यार्थियों के सम्पर्क में आते हैं तो उन्हें अपने शिक्षालय के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान होता है। वे अपने शिक्षालय की विशेषताओं से परिचित होते है और उसके प्रति उनके मन में भावना उत्पन्न होती है। इसलिए सामुदायिक सम्पर्क द्वारा प्रत्येक समुदाय को अपने बारे में जानने के लिए अवसर मिलता है और इस प्रकार वे अपने समुदाय की दुर्बलताओं को दूर करने का प्रयास करते हैं। समाज में सामुदायिक सम्पर्क और सहयोग की बड़ी आवश्यकता है और किसी समाज की प्रगति भी इसी से ज्ञात होती है। यदि विभिन्न समुदायों में सहयोग की भावना है और सब उन्नति के लिए तत्पर रहते हैं, तो कोई कठिनाई नहीं होती। लेकिन जब समुदायों में संघर्ष होता है तो उनके मतभेद उभर कर सामने आ जाते हैं। इसलिए सामुदायिक सम्पर्क जो कि सहयोग और प्रतियोगिता द्वारा होते हैं समुदाय

को अपने बारे में जानने का अवसर देता है और इस प्रकार संगठन मजबूत बनाता है।

समुदाय में नियम—

सामुदायिक संगठन की पूर्णता उस समय उपस्थित होती है जब कि समुदाय के सदस्य अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करते हैं और जो कार्य उनके सामने है उसे मिलकर पूरा करने की कोशिश करते हैं। जब किसी संस्था का संगठन होता है तो उसके लिए नियम बनाये जाते हैं। नियम बनाने का तात्पर्य केवल इतना है कि संस्था का कार्य सुचारु रूप से चले। लेकिन केवल नियमों के बन जाने से संस्था का कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक सदस्य सचाई के साथ नियमों का पालन करे। जब ऐसा होता है तो संस्था चल पड़ती है और वह अपने कार्य प्रणाली को एक परम्परा बनाती है। इसी परम्परा की पूँजी से संस्था का काम चलता रहता है। समाज की संस्कृति (Culture) में संस्थाओं की पपम्परा का प्रमुख स्थान है। अतः जो संस्थायें ऐसे नियम बनातो हैं जिसका आधार सब का सहयोग है वे समाज की प्रगति में सहायक होती हैं और उनके द्वारा संस्कृति का प्रसार होता है। लेकिन जो संस्थायें साम्प्रदायिकता और संकुचित उद्देश्यों को लेकर चलती हैं, उनका समाज की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं होता क्योंकि उनसे समाज की प्रगति में सहायता नहीं मिलती।

शिक्षक और विद्यार्थी—

शिक्षालय संगठन और पाठशाला प्रबन्ध की दृष्टि से अब हमें विद्यार्थी समुदाय पर विचार करना है। सामुदायिक मनोविज्ञान से परिचित हो जाने के पश्चात् हमें विद्यार्थी समुदाय को समझने में सहायता मिलेगी। अतः इन प्रारम्भिक तैयारियों को करने के

बाद हम शिक्षक को पाठशाला प्रबन्ध का प्रतिनिधि मानते हैं और विद्यार्थी को विद्यार्थी समुदाय का। प्रधानाध्यापक जो कि पाठशाला प्रबन्ध को चलाना चाहता है उसे विद्यार्थी-समुदाय से परिचित होना पड़ता है जिससे कि शिक्षालय का कार्य भलीभाँति हो सके। विद्यार्थी-समुदाय से भलीभाँति परिचित होने की दृष्टि से सामुदायिक मनोविज्ञान की सहायता लेनी पड़ती है और उसीके आधार पर शिक्षालय में ऐसा कार्यक्रम बनाना पड़ता है कि प्रबन्ध सुचारु रूप से चले। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक शिक्षालय का संगठन भलीभाँति नहीं हो पाता और न शिक्षालय में अनुशासन ही ठीक रह सकता है। इसलिए कुशल प्रधाना-ध्यापक और अध्यापक शिक्षालय में सामुदायिक भावना का विकास करते हैं और उसके आधार पर सभी प्रबन्ध चलाते हैं।

शिक्षक का व्यवहार—

शिक्षक सामुदायिक संगठन में अपने व्यवहार से सहायता प्रदान कर सकता है। उसे अपने व्यवहार द्वारा विद्यार्थियों को यह विश्वास दिला देना है कि वह उनका शुभचिन्तक है। और यह केवल मौखिक रूप से नहीं हो सकता। इसके लिए कार्य भी करना पड़ता है। अतः अपनी सहानुभूति दिखाने के लिए अध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों के सुख-दुःख को समझे और गरीब छात्रों की आवश्यक सहायता का प्रबन्ध करे। तात्पर्य यह है कि उसका व्यवहार ऐसा हो कि विद्यार्थी उसकी ओर आकर्षित हो। जब शिक्षक विद्यार्थियों के साथ अच्छा व्यवहार करने के कारण उनका विश्वासपात्र बन जाता है, तब उसकी बातों का प्रभाव पड़ता है। शिक्षक जो आदेश देता है, उसका पालन विद्यार्थी सहर्ष करते हैं। अतः विद्यार्थी समुदाय के व्यवहार को अच्छा बनाने के लिए सबसे पहले शिक्षक को

अपना व्यवहार अच्छा बनाना पड़ता है। शिक्षक से मेरा तात्पर्य पाठशाला प्रबन्ध के प्रतिनिधि के रूप में है। अतः प्रधानाध्यापक और अन्य अध्यापकगण सभी को विद्यार्थियों के साथ सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए और वे जो बातें कहें उन पर भलीभाँति विचार करके सम्मति देनी चाहिए। यदि विद्यार्थी समुदाय को डराया धमकाया जाता है तो इसका परिणाम अच्छा नहीं होता। इससे विद्यार्थियों का विकास तो रुकता ही है, साथ ही भावनाओं के अवरोध के कारण कटुता बढ़ती है। इसलिए विद्यार्थी-समुदाय के साथ सहानुभूति का व्यवहार अत्यन्त आवश्यक है।

शिक्षालय का आदर्श—

विद्यार्थियों में सामुदायिक भाव उत्पन्न करने में शिक्षालय का आदर्श बड़ा सहायक होता है। जब उनके सामने शिक्षालय का आदर्श रखा जाता है और कहा जाता है कि आपको ऐसा कोई कार्य नहीं करना है जिससे कि शिक्षालय की प्रतिष्ठा को ठेस लगे, तो उनमें ऐसी भावना उत्पन्न होती है जिससे कि शिक्षालय का सम्मान बढ़ता है। विद्यार्थी अपने शिक्षालय पर गर्व करते हैं और यही भावना शिक्षालय छोड़ने के बाद भी कार्य करती है। जब वे प्राचीन छात्र हो जाते हैं और समाज में प्रतिष्ठा पाते हैं, उस समय वे अपने शिक्षालय के आदर्श का स्मरण करते हैं और उसके प्रति कृतज्ञता प्रगट करते हैं। मैंने स्वयं देखा है कि शिक्षा-विभाग के अधिकारी उन शिक्षालयों के विद्यार्थियों को अधिक पसद करते हैं जिनमें शिक्षालय के प्रति सम्मान का भाव होता है। सरकारी स्थानों के चुनाव के समय जब यह पूछा जाता है कि शिक्षा किस शिक्षालय से प्राप्त की है तो उसका तात्पर्य केवल यह जानना होता है कि तुम्हारे सामने कोई आदर्श रखा गया अथवा नहीं। इस प्रकार यह आवश्यक

है कि विद्यार्थी समुदाय में शिक्षालय के प्रति सम्मान का भाव उपस्थित किया जाय और यह तभी संभव है जब कि विद्यार्थी यह अनुभव करें कि शिक्षालय का सम्मान बढ़ाना उनका काम है। यह सरलतापूर्वक हो सकता है यदि अध्यापकगण और प्रधानाध्यापक इस बात की ओर ध्यान दें।

शिक्षालय के उत्सव—

विद्यार्थी-समुदाय को संगठित करने में शिक्षालय के उत्सव बड़े सहायक होते हैं। अतः उत्सवों का आयोजन और प्रबन्ध विद्यार्थियों द्वारा होना चाहिए। इसके लिए विद्यार्थियों की समिति बना देनी चाहिए। इससे यह लाभ होता है कि विद्यार्थियों में उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है और वे दौड़-धूप कर कार्य करते हैं। प्रत्येक विद्यार्थी यथाशक्ति सहयोग के साथ काम मे लग जाते हैं। इस प्रकार उन्हें संगठन की शिक्षा मिलती है और साथ ही उत्तरदायित्व क्या है इसका भी ज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त शिक्षालय में खेल और मैच की भी व्यवस्था होनी चाहिए। खेल के द्वारा विद्यार्थियों में संगठन-शक्ति का विकास होता है। जब एक स्कूल की टीम दूसरे स्कूल की टीम से मैच खेलती है, उस समय एक स्कूल के विद्यार्थी अपने स्कूल की टीम की सफलता की कामना करते हैं। पर साथ ही उन्हें यह भी ज्ञात होता है कि जब हार-जीत का प्रश्न उपस्थित हो, उस समय ऐसा कोई कार्य नहीं करना है जिससे कि शिक्षालय के सम्मान को धक्का लगे। इस प्रकार विद्यार्थियों में शिक्षालय की उन्नति और सम्मान के प्रति एक उत्तरदायित्व आ जाता है।

शिक्षालय के नियम—

विद्यार्थियों में सामुदायिक भाव उत्पन्न करने की दृष्टि से

शिक्षालय में नियम होने चाहिए। नियम होने से विद्यार्थियों को स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उन्हें क्या करना है और वे जब नियम को तोड़ेंगे तो क्या होगा। इस प्रकार विद्यार्थी समुदाय शिक्षालय के नियमों का पालन करता है और उनके सामने सामूहिक जीवन का एक चित्र उपस्थित होता है। पर साथ ही अध्यापकों और प्रधानाध्यापक का यह कर्तव्य है कि नियम-पालन के सम्बन्ध में न्याय से कार्य करें। यदि विद्यार्थियों को किसी दशा में यह सन्देह हो गया कि प्रधानाध्यापक पक्षपाती है तो बड़ी हानि होती है। उदाहरण के लिए शिक्षालय में विभिन्न धर्मों और जातियों के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते हैं। यदि प्रधानाध्यापक मुसलमान होने के कारण हिन्दू विद्यार्थियों के साथ वैसा ही व्यवहार नहीं करता जैसा कि मुसलमान विद्यार्थियों के साथ, तो विद्यार्थी समुदाय में असंतोष उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जब ब्राह्मण प्रधानाध्यापक हरिजन विद्यार्थियों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता और न्यायपूर्वक नियम का पालन नहीं करता तो असंतोष होना स्वाभाविक है। इसलिए इन सबसे बचने का सरल उपाय यह है कि शिक्षालय के नियम के अनुसार कार्य किया जाय और नियम के पालन में किसी धर्म और जाति की भावना को न आने दिया जाय।

मानीटर का कार्य—

शिक्षालय संगठन में मानीटर का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानीटर का पद उसी विद्यार्थी को मिलना चाहिए जिसे कक्षा के विद्यार्थियों का सहयोग मिले। साधारणतः कक्षा के विद्यार्थी एक ऐसे विद्यार्थी को मानीटर का पद देना चाहते हैं जो पढ़ने में तेज हो और कक्षा में प्रथम स्थान पाता हो। इसके अतिरिक्त मानीटर में चरित्र का भी होना आवश्यक है। जब कक्षा में योग्य मानीटर

की नियुक्ति हो जाती है तो अध्यापक की अनुपस्थिति में भी कार्य सुचारु रूप से चलता है। शिक्षालय-प्रबंध की दृष्टि से यह वांछनीय है कि सभी कक्षाओं के मानीटरों की एक समिति हो और उसकी बैठक महीने में कम से कम एक बार अवश्य होनी चाहिए। इस बैठक में मानीटरों की ओर से प्रधानाध्यापक का ध्यान उन त्रुटियों की ओर ले जाया जा सकता है जो शिक्षालय में उत्पन्न हो गई हों। इस प्रकार अध्यापकों और प्रधानाध्यापक को उन बातों को पता लगता रहता है जो विद्यार्थी समुदाय चाहता है। ऐसा करने से विद्यार्थियों को भी यह अनुभव होता है कि शिक्षालय के प्रबन्ध में उनका एक स्थान है। यदि प्रधानाध्यापक मानीटरों की सहायता से विद्यार्थी-समुदाय की भावनाओं और विचारों से परिचित होकर कार्य करता है तो शिक्षालय-प्रबन्ध भलीभाँति चलता है। इसलिए शिक्षालय की प्रत्येक कक्षा में योग्य मानीटर का होना आवश्यक है क्योंकि इनसे विद्यार्थी समुदाय की वास्तविक विचारधारा का ज्ञान होता है और शिक्षालय-संगठन में सहायता मिलती है।

शिक्षालय में अनुशासन

अनुशासन—

शिक्षालय में अनुशासन का विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अनुशासन क्या है इसके सम्बन्ध में अनेक विचार मिलते हैं। किसीके अनुसार अनुशासन है शांति बनाये रखना तो किसी के अनुसार है अपराधी को दंड देना। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुशासन के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनायें हैं। पर अनुशासन है क्या? यदि इस प्रश्न पर हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि अनुशासन वह कार्य प्रणाली है जिसमें नियमानुसार कार्य होता है। ठीक ठीक काम करने का एक तरीका होता है और जब सही तरीके से काम किया जाता है तो अनुशासन स्थापित हो जाता है। अनुशासन के सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि अनुशासन बाहरी वस्तु नहीं है। किसी दूसरे के द्वारा दबाव के रूप में नहीं है, वरन् व्यक्ति स्वयं अपने पर शासन करता है अर्थात् अपने काम को ठीक ठाक करता है। अतः अनुशासन के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान हो और उसके कार्य नियमानुकूल हों। यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि नियम तो दूसरे के द्वारा बनाये गये होते हैं। अतः नियम का पालन भी एक प्रकार का बंधन है। पर बात ऐसी नहीं है। नियम जब बनते हैं तो सब के लिए होते हैं। यहाँ तक कि नियम बनानेवालों को भी उनका पालन करना पड़ता है। इसलिए यह सोचना कि नियम दूसरों के द्वारा बनाये गये हैं और उनके पालन का उत्तरदायित्व हम पर नहीं है, ग़लत है।

विद्यार्थी और अनुशासन—

शिक्षालय में अनुशासन का अर्थ यह होता है कि विद्यार्थी-समुदाय, अध्यापक वर्ग तथा शिक्षालय के अन्य कर्मचारी अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। अनुशासन का सम्बन्ध जहाँ तक अध्यापक वर्ग तथा शिक्षालय के अन्य कर्मचारियों से है उसके सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पर इतना तो अवश्य ध्यान में रखना ही है कि जिस शिक्षालय के अधिकारियों में अनुशासन होता है, वहाँ के विद्यार्थियों में अनुशासन होना स्वाभाविक होता है। यह एक ऐसा सत्य है जिस पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। पर जिन लोगों को अनुभव है, वे इस सत्य को स्वीकार करेंगे। इसलिए शिक्षालय में अनुशासन के निमित्त अधिकारी वर्ग को अनुशासित होना पड़ेगा। इसका अर्थ यह है कि उन्हें शिक्षालय के जितने भी नियम हैं, उनका पालन स्वयं करना पड़ेगा।

शिक्षालय में अनुशासन से जहाँ तक विद्यार्थियों का सम्बन्ध है, उसके सम्बन्ध में शिक्षा की दृष्टि से यह समझना चाहिए कि अनुशासन द्वारा विद्यार्थियों को सही तरीके से काम करना सिखाया जाता है। अनुशासन से विद्यार्थियों में अच्छी आदतें पड़ती हैं। इस प्रकार अनुशासन की शिक्षा की दृष्टि से वह उपयोगिता है जो जीवन पर्यन्त काम में आती है। पर साथ ही यह वांछनीय है कि शिक्षालय में जिस प्रकार के अनुशासन की आवश्यकता हो उसकी उपयोगिता और महत्त्व को विद्यार्थी समुदाय स्वीकार करता हो। दूसरे शब्दों में शिक्षालय के अधिकारी वर्ग जिस प्रकार का अनुशासन विद्यार्थियों से चाहते हों उसके सम्बन्ध में विद्यार्थियों को भलीभाँति समझा दें। अनुशासन के नाम पर शिक्षालय के अधिकारी यदि कोई ऐसा काम करना चाहते हैं

जो विद्यार्थियों की समझ में ठीक नहीं है तो उस अनुशासन का पालन न हो सकेगा। उदाहरण के लिए यदि कोई प्रधानाध्यापक यह चाहे कि उसके शिक्षालय के विद्यार्थी सिर मुँड़ा कर पढ़ने आवें तो उसके इस प्रकार के अनुशासन का विरोध होगा। लेकिन यदि अनुशासन के नियम को पहले समझा दिया जाता है तो शिक्षालय में वे विद्यार्थी पढ़ते हैं जिन्हें उन नियमों के अनुसार कार्य करना पसन्द है। इसलिए विद्वानों का मत है कि अनुशासन की कसौटी यह है कि उसकी उपयोगिता विद्यार्थियों द्वारा स्वीकार की जाय। साथ ही यह भी आवश्यक है कि अनुशासन ऐसे आदर्शों पर आधारित हो जिनसे विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण में सहायता मिलती हो।* लेकिन कितने ही प्रधानाध्यापक शिक्षालय में अनुशासन 'भय' पर आधारित करते हैं। उनके लिए अनुशासन तब होता है जब कि विद्यार्थी डरे रहें। इस मत के जो प्रधानाध्यापक तथा अध्यापक हैं उनके द्वारा वास्तविक शिक्षा में क्षति पहुँचती है। इसलिए नवीन शिक्षा, जिसका कि केन्द्र बालक है अनुशासन के नाम पर 'भयभीत' करने की क्रिया का विरोध करती है। यदि विद्यार्थियों द्वारा अनुशासन का पालन कराना है तो उसका केवल एक यही उपाय है कि उसकी उपयोगिता को स्पष्ट किया जाय और विद्यार्थियों

---

* Discipline may take various forms but the crucial test of its soundness is whether it represents a real sense, on the part of the children, of the rightness of the behaviour that is expected of them. It cannot be considered good unless it is founded upon worthy ideas of conduct that are becoming, or have become, embedded in the children's characters:— Handbook of suggestions. Page 24.

को अनुशासन के लाभ बताये जाँय तभी विद्यार्थियों में अनुशासन हो सकता है, अन्यथा नहीं।

अनुशासन के नियम : रुचि—

अनुशासन के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि हम उन नियमों को मालूम करें जिनके आधार पर अनुशासन चल सकता है। इस सम्बन्ध में पहला नियम यह है कि विद्यार्थियों की रुचि के अनुसार कार्य होने पर अनुशासन स्थापित हो जाता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि विषय में रुचि का फल अनुशासन है। यदि कक्षा में अनुशासन नहीं है तो अध्यापक को यह समझना चाहिए कि विद्यार्थियों की रुचि कार्य नहीं कर रही है। रुचि किस प्रकार उत्पन्न की जा सकती है, यह मनोविज्ञान का विषय है। पर इस सम्बन्ध में इतना कहा जा सकता है कि बालकों की रुचि उस कार्य में होती है जो उनकी योग्यता और शक्ति के अनुसार होता है। यदि विद्यार्थियों के सामने किसी ऐसे पाठ की शिक्षा दी जा रही है जो उनकी समझ के बाहर है तो उनकी रुचि कार्य नहीं करेगी। और रुचि के अभाव में उनका चंचल मन अन्य वस्तुओं की ओर जायगा। उनकी स्वाभाविक शक्ति दूसरे कार्य करने की ओर प्रेरित होगी। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि वह पाठ में विद्यार्थियों की रुचि उत्पन्न करे। यदि उस समय वह रुचि उत्पन्न नहीं कर पाता तो उसे उस कार्य को लेना चाहिए जिनमें विद्यार्थियों की रुचि हो।

शिक्षक की सहानुभूति—

अनुशासन का दूसरा नियम शिक्षक की सहानुभूति पर आधारित है। अक्सर यह देखा गया है कि कुछ अध्यापक यह मान बैठते हैं कि विद्यार्थी अनुशासन भंग करते हैं और वे अनु-

शासन में रह ही नहीं सकते। इस प्रकार के विचार रखनेवाला शिक्षक अनुशासन नहीं स्थापित करता। अनुशासन स्थापित करने में वही शिक्षक सफल हो सकता है जो विद्यार्थियों के साथ सहानुभूति रखता हो और साथ ही उसे यह विश्वास हो कि विद्यार्थी ठीक से काम करना चाहते हैं। इसलिए शिक्षक को चाहिए कि वह अनुशासन का कार्य सहानुभूतिपूर्वक करे और उसके लिए विद्यार्थियों में विश्वास करे कि वे नियमपूर्वक कार्य कर सकते हैं। नियमपूर्वक कार्य कराने के लिए नियमों को ऐसा होना चाहिए जो उचित मालूम पड़ें। अनुचित नियमों के बल पर अनुशासन नहीं चल सकता। और साथ ही यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अनुशासन के उचित नियम वे हैं जिनसे विद्यार्थी-समुदाय का हित हो और जो किसी प्रकार उनका दमन न करते हों। ऐसे नियम जो विद्यार्थियों का दमन करना चाहते हैं, अनुचित हैं। इस प्रकार शिक्षक सहानुभूति के साथ उचित अनुशासन द्वारा कार्य करता है। यदि शिक्षक अनुभवी है और उसे बाल-मनोविज्ञान का ज्ञान है तो वह अनुशासन को भलीभाँति चला सकता है क्योंकि अनुशासन का सम्बन्ध हृदय से है। यह कोई बाहरी निर्जीव वस्तु नहीं है, वरन् जीवन की एक शैली है। अतः ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय के लिए 'निर्जीव नियम' नहीं हो सकते हैं। इसके लिए तो एक नियम है हृदय को समझने का। यदि अध्यापक विद्यार्थी के हृदय की बात को समझ सकता है तो वह अनुशासन बड़ी सफलता से चला सकता है।

अनुशासन के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, यदि हम उन्हें संक्षेप रूप में रखना चाहें तो वह इस प्रकार होगा:—

(१) अनुशासन के लिए विद्यार्थियों को इस प्रकार पढ़ाना चाहिए कि उनकी रुचि उत्पन्न हो।

(२) अनुशासन के लिए विद्यार्थियों के साथ सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार होना चाहिए।

(३) अनुशासन के नाम पर विद्यार्थियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का दमन करना अनुचित है।

(४) अनुशासन के लिए निश्चित नियम होने चाहिएँ और उन नियमों का निश्चय चरित्र-निर्माण की दृष्टि से होना चाहिए।

(५) अनुशासन में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिए।

(६) शिक्षालय का वातावरण ऐसा हो कि विद्यार्थियों में अनुशासन की इच्छा हो।

(७) अनुशासन की नैतिकता के सम्बन्ध में विद्यार्थियों को समय समय पर समझाया जाय।

कक्षा में अनुशासन—

कक्षा में अनुशासन के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक सम्पूर्ण कक्षा पर दृष्टि रखे। कक्षा का प्रत्येक विद्यार्थी यह अनुभव करे कि अध्यापक की दृष्टि उसकी ओर है और यदि वह कोई अनुचित कार्य करेगा तो अध्यापक महोदय देख लेंगे। पर साथ ही विद्यार्थी को यह भी मालूम हो कि जब उसके अनुचित कार्य को अध्यापक देखता है तो उसे क्रोध नहीं होता, वरन् दुःख होता है। इसलिए विद्यार्थी अपने अध्यापक को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता। जब विद्यार्थी और अध्यापक में स्नेह का सम्बन्ध होता है तो विद्यार्थी अध्यापक की दृष्टि को महत्त्व देता है और वह कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहता जिसके कारण उसके सम्बन्ध में अध्यापक के विचार बदलें। इसलिए अध्यापक को सम्पूर्ण कक्षा पर दृष्टि रखने के लिए कहा जाता है।

बहुधा जब अध्यापक श्यामपट पर कुछ लिखने लगता है और

उसकी पीठ कक्षा की ओर हो जाती है तो कुछ विद्यार्थी अनुशासन भंग करने की चेष्टा करते हैं। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि वह श्यामपट पर लिखते समय पीछे घूमकर कक्षा की ओर देख लिया करे जिससे कि विद्यार्थियों में अनुशासन भंग करने की इच्छा न उत्पन्न हो।

अनुशासन और आज्ञा—

कक्षा-अनुशासन के समय अध्यापक विद्यार्थियों को आज्ञायें देता है। यदि अध्यापक आज्ञायें ठीक ठीक नहीं देता तो अनुशासन भंग होने की आशंका रहती है। इसलिए आज्ञा देते समय अध्यापक को निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिए:—

(१) अधिक आज्ञायें न दी जाँय। अर्थात् आवश्यकतानुसार ही आज्ञायें दी जाँय।

(२) आज्ञा देते समय अध्यापक को दृढ़ और निश्चित होना चाहिए।

(३) किसी आज्ञा को दूसरी बार नहीं देना चाहिए। इससे अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता।

(४) जो आज्ञा दी जाय उसकी पूर्ति अवश्य होनी चाहिए।

(५) आज्ञा निषेध के रूप में नहीं होनी चाहिए। अर्थात् यह कार्य मत करो न कह कर उचित कार्य करने के लिए कहा जाय।

(६) आज्ञा ऐसी हो जो सब के लिए हो सके।

(७) ग़लत आज्ञा नहीं देनी चाहिए।

बेसिक शिक्षालय में अनुशासन—

अनुशासन का स्वरूप विभिन्न कक्षाओं में क्या होगा अब इस पर विचार करना चाहिए। प्रारम्भिक कक्षाओं में अनुशासन के नियम नहीं चल सकते क्योंकि बच्चों में नियम-पालन का विचार उत्पन्न नहीं हुआ होता। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि वह

संकेत (Suggestion) और उदाहरण के द्वारा बच्चों को अच्छे कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करे। बच्चों में यह प्रवृत्ति होती है कि वे अपने अध्यापक को खुश करना चाहते हैं और उससे शाबाशी लेना चाहते हैं। इसलिए जब कोई बच्चा 'अनुशासन' में नहीं रहता तो अध्यापक बालक को अप्रसन्नता का भाव प्रकट कर सकता है। जब बालक को यह ज्ञात होता है कि अध्यापक अप्रसन्न हो गया है तो वह उसे प्रसन्न करने का प्रयास करता है और इस प्रकार कक्षा के अनुशासन में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त अध्यापक को यह चाहिए कि जब बच्चे ठीक ठीक कार्य करें तो वह उन्हें शाबाशी दे। इससे उन्हें प्रोत्साहन मिलता है और वे भलीभाँति कार्य करते हैं। साथ ही अध्यापक को यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वह किसी बालक का 'मूर्ख' आदि न कहे। यदि किसी बालक को मूर्ख कहा जाता है तो वह अपने को मूर्ख समझने लगता है और यह मान बैठता है कि वह पढ़ ही नहीं सकता। इसलिए अध्यापक को इस सम्बन्ध में सावधान रहना चाहिए।

जूनियर हाईस्कूल में अनुशासन—

जूनियर हाईस्कूल (कक्षा ६, ७ और ८) के अनुशासन में तीन बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि बालक में उचित और अनुचित का ज्ञान आ जाता है। वह उचित कार्य करना चाहता है और अनुचित का विरोध करता है। अतः अनुशासन में यदि कोई अनुचित बात होती है तो वह उसका विरोध करता है। इसलिए अध्यापक को ध्यान में रखना चाहिए कि उसके अनुशासन का उचित आधार हो। दूसरी बात यह है कि इन कक्षाओं के विद्यार्थियों में आपसी मतभेद अधिक होते हैं और वे अपने झगड़ों को अध्यापक के पास लाते हैं। यदि अध्यापक ध्यानपूर्वक

उनकी बातों को सुनता है, समझता है और उचित निर्णय करता है तो विद्यार्थी उसका सम्मान करते हैं और उसके अनुशासन में रहते हैं। लेकिन यदि अध्यापक ऐसा नहीं करता और क्रोधित होकर और बिना सोचे समझे बातें करता है तो उसके अनुशासन में कमी होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि अध्यापक कभी क्रोधित न हो और सोच-विचार कर बातें कहे। इन कक्षाओं में अनुशासन सम्बन्धी तीसरी बात यह है कि विद्यार्थियों को केवल कक्षा में बैठे रहने के लिए बाध्य करना अनुचित है। विद्यार्थियों में शक्ति होती है। वे कुछ करना चाहते हैं। अतः पाठन-शैली ऐसी हो कि विद्यार्थी सक्रिय हो सकें। यदि ऐसा होता है तो अनुशासन में सरलता होती है।

हायर सेकन्डरी में अनुशासन—

हायर सेकन्डरी में अनुशासन के निमित्त यह ध्यान में रखना चाहिए कि इन कक्षाओं के विद्यार्थियों में अनुशासन की भावना उत्पन्न हो गई होती है और ये अपने उत्तरदायित्व को अनुभव भी करते हैं। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि वह अनुशासन के कार्य में विद्यार्थियों का सहयोग प्राप्त करे। इसके लिए उसे उचित वातावरण का निर्माण करना होगा और विद्यार्थियों के सम्मुख यह रखना होगा कि अनुशासन को बनाये रखना उनका कर्त्तव्य है। जब इस प्रकार अध्यापक विद्यार्थियों में अनुशासन की भावना उत्पन्न कर लेगा तो उसे किसी प्रकार की कठिनाई न होगी। अनुशासन की भावना उत्पन्न करते समय अध्यापक को यह ध्यान में रखना चाहिए कि विद्यार्थी अपने स्वभाव के अनुसार अभिव्यक्ति का अवसर चाहते हैं। वे ऐसी कोई बात पसन्द नहीं करेंगे जो उनके स्वाभाविक अभिव्यक्ति में अवरोध उत्पन्न करे। इसलिए अध्यापक को ऐसे वातावरण का निर्माण

करना है जिसमें प्रत्येक विद्यार्थी के विकास की संभावना हो। यदि अध्यापक इस प्रकार के वातावरण प्रस्तुत करने में असफल होता है तो उसे अपने से प्रश्न करना चाहिए और असफलता का कारण ढूँढ़ना चाहिए। यदि वह ध्यानपूर्वक विचार करता है तो उसे ज्ञात होगा कि उसके अनुशासन में कमी के कारण हैं:— नियम की कठोरता, उसकी ढिलाई और विद्यार्थियों की अभिव्यक्ति के लिए उचित अवसरों का अभाव। अतः इन सब बातों की ओर ध्यान रखकर ही अनुशासन होना चाहिए।

अनुशासन का नवीन रूप—

अनुशासन के सम्बन्ध में अंतिम आवश्यक बात उसका नवीन रूप है। नवीन शिक्षा में अनुशासन का रूप भी बदल गया है और इस परिवर्त्तित रूप का आधार है बालक की श्रेष्ठता। बालक न तो कुटिल होता है और न चरित्रहीन। अतः हमें उसके सहज स्वभाव को स्वीकार करना है। कुछ अध्यापकों का विचार है कि बच्चे जन्म से शरारती होते हैं और उनमें अनुशासन मानने की प्रवृत्ति नहीं होती। नवीन शिक्षा इस बात को नहीं मानती। साथ ही नवीन शिक्षा यह भी नहीं मानती कि सहानुभूति के साथ जब अध्यापक व्यवहार करता है, तब भी विद्यार्थी अनुशासन में नहीं रहते। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुशासन के नवीन रूप की दो विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि बालक सहज स्वभाव का होता है और दूसरे सहानुभूतिपूर्ण और उचित व्यवहार करनेवाला अध्यापक अनुशासन में सभी विद्यार्थियों को रख सकता है। इस बात की सत्यता तो अनुभव से ही ज्ञात हो सकती है।

दंड

दंड के कारण—

दंड उस समय दिया जाता है, जब कि अनुशासन तोड़ा जाता है। दंड अनुशासन भंग करने का परिणाम है। जिस प्रकार आग में हाथ डालने से हाथ जल जाना स्वाभाविक है, उसी प्रकार अनुशासन तोड़ने पर दंड मिलना स्वाभाविक है। इस प्रकार का विचार पुराने शिक्षाशास्त्री दंड के सम्बन्ध में रखते हैं। पर हमें दंड के सम्बन्ध में किसी विचार को ग्रहण करने के पूर्व स्वयं सोचना चाहिए। यदि हम इस कार्य में अपने पुराने अनुभवों से सहायता लें तो सरलता होगी। आजकल शिक्षालयों में उस प्रकार दंड नहीं दिया जाता, जैसा कि आज से लगभग दस वर्ष पूर्व। वर्तमान समय में बालक शिक्षा का केन्द्र है। यदि बालक का मन पढ़ने में नहीं लगता तो रुचि का अभाव मानते हैं और फिर अध्यापक पाठ में रुचि उत्पन्न करने की कोशिश करता है। यदि बालक अनुशासन भंग करता है तो तुरन्त ही दंड देने की व्यवस्था नहीं है, वरन् दंड देने के पहले अध्यापक को अनुशासन भंग करने का कारण मालूम करना पड़ता है। इस प्रकार नवीन शिक्षा में दंड पर कार्य और कारण की दृष्टि से विचार करते हैं। इस विचार के परिणामस्वरूप अध्यापक को पहले यह अच्छी तरह मालूम हो जाता है कि अनुशासन भंग हुआ है या नहीं। बहुधा यह देखा गया है कि बालक अनजान में, बिना जाने-बूझे कोई ऐसा कार्य कर बैठता है जिससे कि अनुशासन भंग होता है। ऐसी दशा में क्या उसे दंड मिलना उचित है? कुछ अध्यापकों का यह विचार हो सकता है किनुश अजब ासन भंग हो उस

समय दंड मिलना ही चाहिए। लेकिन मेरा विचार यह है कि दंड उस समय देना चाहिए जब कि जान-बूझकर अपराध किया गया हो। वास्तव में दंड का यही आधार है। न्यायालय में पहले अपराधी के अपराध को मालूम किया जाता है और फिर अपराध की परिस्थितियों पर विचार किया जाता है। इसी प्रकार शिक्षालय में दंड देते समय अध्यापक को दंड के कारण का पता लगाना चाहिए जो कि जान-बूझकर अनुशासन भंग करना है। यदि कोई विद्यार्थी जान-बूझकर अनुशासन भंग करता है तो उसे दंड मिलना चाहिए।

दंड के उद्देश्य—

लेकिन अनुशासन भंग करने पर जो दंड दिया जाय उसका स्वरूप क्या हो? दंड के स्वरूप को निश्चित करने में हमें सहायता मिलेगी यदि हम दंड के उद्देश्य को जान सकें। दंड क्यों दिया जाता है? दंड देने का उद्देश्य क्या है? दंड देने का उद्देश्य केवल दंड देना ही नहीं है, वरन् दंड द्वारा सुधार करना है और बालक में अनुशासन की भावना उत्पन्न करना है। इस प्रकार दंड देने के उद्देश्य तीन हो सकते हैं। एक तो यह कि जब कि अनुशासन भंग होता है तो दंड मिलता है। इसका वास्तविक ज्ञान विद्यार्थियों को हो जाता है। इस प्रकार दंड का पहला उद्देश्य है अनुशासन भंग करने के परिणाम का बोध कराना। दंड देने का दूसरा उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी को अनुशासन भंग करने से रोका जाय। जब कोई विद्यार्थी अनुशासन भंग करता है तो उसे दंड इसलिए भी दिया जाता है कि वह दूसरी बार फिर अनुशासन भंग न करे। दंड देने का तीसरा उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी में सुधार हो। यदि हम दंड के इन तीन उद्देश्यों को ध्यानपूर्वक देखें तो हमें ज्ञात होगा कि इनमें विकास का एक क्रम

है। अनुशासन भंग करने के परिणाम का जब बोध हो जाता है, तब अनुशासन भंग करने से विद्यार्थी रुकता है और जब वह अनुशासन भंग करने में रुकता है तो उसमें सुधार हो जाता है। इस प्रकार दंड देने का मुख्य उद्देश्य है सुधारना। जिस दंड के पीछे सुधार का उद्देश्य न हो, अथवा जिस दंड से सुधार की संभावना भी न हो, उस दंड का शिक्षा की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। इस दृष्टि से हमें दंड के स्वरूप पर विचार करना होगा कि किस प्रकार का दंड किन परिस्थितियों में दिया जाय। अपराध की गुरुता के अनुसार ही दंड देना उचित है। जिस प्रकार न्यायालय में प्रत्येक अपराध के लिए फाँसी नहीं दी जाती, उसी प्रकार शिक्षालय में भी दंड के विभिन्न स्वरूप होते हैं। अतः दंड के स्वरूपों से परिचित होना आवश्यक है।

दंड के स्वरूपः डाँट-डपट—

दंड का पहला स्वरूप डाँट-डपट है। अध्यापक विद्यार्थी को डाँटता और फटकारता है। ऐसा करने में उसका उद्देश्य होता है कि विद्यार्थी का ध्यान आवश्यक अनुशासन की ओर आकर्षित किया जाय और साथ ही उसे यह भी अनुभव कराया जाय कि उसने कितना अनुचित काम किया है। डाँटनेसे विद्यार्थी कक्षा के अन्य विद्यार्थियों के सामने लज्जित होता है। इस प्रकार डाँट-डपट से विद्यार्थी को दंड दिया जा सकता है। लेकिन ऐसा दंड उन्हीं विद्यार्थियों के उपयुक्त है जो सारधणतः अच्छे हैं और किन्हीं कारणों से लापरवाही कर बैठते हैं।

छुट्टी के बाद रोकना—

दूसरे प्रकार का दंड शिक्षालय में छुट्टी हो जाने के बाद रोकना है। यदि विद्यार्थी कक्षा से भागता है, अथवा देर से आता है, तो उसका दंड छुट्टी के बाद रोककर दिया जा सकता

है। छुट्टी हो जाने पर सभी विद्यार्थी घर जाते हैं, पर वही विद्यार्थी रह जाता है जिसे रोका गया है। इस प्रकार वह दंड को अनुभव करता है। दंड के लिए जब विद्यार्थी रोके जाँय तो उन्हें खाली न बैठने दिया जाय, वरन् कोई लिखने-पढ़ने का काम दे दिया जाय। लेकिन ऐसा करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि जो काम दिया जाय वह कोर्स के बाहर का हो, पर उसकी योग्यता के अनुकूल हो। यदि दंड देने के लिए विद्यार्थी को कठिन प्रश्न हल करने को दे दिए जाते हैं तो वह उन प्रश्नों को नहीं कर पाता। इतना ही नहीं, उसमें विषय के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए कठिन दंड के लिए कठिन प्रश्न देने की नीति हानिकारक है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का यह मत है कि छुट्टी के बाद रोकने का परिणाम अच्छा नहीं होता। इसके कारण बालक अपने घर देर में पहुँचता है और उसके माता-पिता चिंतित होते हैं। कभी कभी तो बालक बिना स्कूल में रोके गये भी घर देर में जाता है क्योंकि वह रास्ते में कहीं खेलने लगता है। इसका कारण यह है कि बालक में विश्वास हो जाता है कि वह रोके जाने का बहाना कर सकता है। इस प्रकार उसमें अन्य बुराइयाँ आ सकती हैं। इसके अलावा विद्यार्थी के साथ अध्यापक को भी रुकना पड़ता है। इसलिए कुछ लोग छुट्टी के बाद रोके जाने के दंड को अच्छा नहीं समझते।

जुर्माना—

तीसरे प्रकार का दंड जुर्माना है। यदि विद्यार्थी कोई गलती करता है तो उस पर जुर्माना किया जाता है। उदाहरण के लिए यदि विद्यार्थी पढ़ने नहीं आता तो उसे दो आना जुर्माना होता है। इस प्रकार के दंड के सम्बन्ध में विद्वानों का विचार यह है कि इससे बालक और उसके अभिभावक दोनों को दंड मिलता

है। बालक तो स्वयं कमाता नहीं और जुर्माने का पैसा माता-पिता को देना पड़ता है। इसलिए ऐसे अपराधों पर जुर्माना होना चाहिए जिसकी जिम्मेदारी माता-पिता पर भी हो। उदाहरण के लिए यदि बालक देर से आता है, अथवा नहीं आता या आवश्यक सामग्री नहीं लाता तो इसका उत्तरदायित्व माता-पिता पर भी है। अतः जुर्माना किया जा सकता है। लेकिन विद्यार्थी जब ऐसा अपराध करता है जिसके लिए माता-पिता किसी रूप में उत्तरदायी नहीं हैं तो अध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थी से शिक्षालय का कोई काम करावे। उदाहरण के लिए कक्षा की सभी मेजों की दवातों में स्याही भरना, खेल के मैदान की सफाई करना आदि काम विद्यार्थी को दंड देने के लिए दिया जा सकता है।

शारीरिक दंड—

चौथे प्रकार का दंड शारीरिक है। जब विद्यार्थी अनुशासन भंग करता है तो उसपर मार पड़ती है। इस प्रकार के दंड के सम्बन्ध में कई विचार हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि शारीरिक दंड अमानुषिक है और निर्दयता का परिचायक है। जिस बालक को शारीरिक दंड मिलता है वह कुछ दिनों के बाद एक स्थायी अपराधी बन जाता है। इसका कारण यह है कि शारीरिक दंड में सुधार की संभावना नहीं है और अध्यापक भी जब शारीरिक दंड देता है तो क्रोधित होकर देता है। क्रोध के कारण अपराध के सम्बन्ध में उस समय कोई विचार नहीं होता। इस प्रकार अध्यापक अपने क्रोध का ज्वर विद्यार्थी पर उतारता है।

लेकिन जो लोग शारीरिक दंड के पक्ष में हैं उनका विचार है कि यदि शारीरिक दंड सोच-समझ कर दिया जाय तो उसकी

उपयोगिता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिए जाते हैं:

(१) शारीरिक दंड कम से कम दिया जाय। यदि अधिक दिया जाता है तो विद्यार्थियों में दंड का भय जाता रहता है।

(२) शारीरिक दंड सभी विद्यार्थियों के सामने न दिया जाय, वरन् प्रधानाध्यापक अपने कमरें में बुलाकर दंड दे। यदि दंड सभी के सामने दिया जाता है तो विद्यार्थी अपमानित होता है और इसके फलस्वरूप उसमें यह भावना उत्पन्न होती है कि इससे अधिक अब कुछ नहीं हो सकता। दूसरे, अन्य विद्यार्थीयों में दंडित विद्यार्थी के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। अतः सामुहिक विरोध की संभावना हो जाती है। सबके सामने शारीरिक दंड देने से तीसरी हानि यह है कि शरीरिक दंड के परिणाम को सभी विद्यार्थी देखते हैं और अनुभव करते हैं कि इसमें अधिक पीड़ा नहीं होती।

(३) शारीरिक दंड अपराध के अनुसार होना चाहिए। साधारण अपराध के लिए साधारण शारीरिक दंड होना चाहिए।

(४) जो विद्यार्थी दुर्बल और भावुक हो उन्हें शारीरिक दंड न देना ही अच्छा है।

(५) चौदह वर्ष से अधिक आयु वाले विद्यार्थियों को भी शारीरिक दंड नहीं देना चाहिए।

(६) शारीरिक दंड अपराध करने के कुछ समय बाद देना चाहिए। ऐसा करने से विद्यार्थी का उद्वेग शांत हो जाता है और वह अपराध के परिणाम को समझ पाता है।

(७) जब अध्यापक क्रोधित हो; उस समय दंड नहीं देना चाहिए। क्रोध के समय दंड की मात्रा का ध्यान नहीं रहता।

नैतिक दंड—

नैतिक दंड का सम्बन्ध विद्यार्थी के मन से है। जब उसे

नैतिक दंड मिलता है तो बड़ी मानसिक पीड़ा होती है और उसे शांति उसी समय मिलती है जब कि वह पश्चात्ताप करता है। लेकिन नैतिक दंड देना सरल नहीं है। इसके लिए दंड देनेवाले में भी अपार नैतिकता की आवश्यकता होती है। नैतिक व्यक्ति ही नैतिक दंड दे सकता है। इसलिए नैतिक दंड का महत्व उसी समय है जब कि नैतिक वातावरण हो और सम्पूर्ण कार्य का दृष्टिकोण नैतिक हो।

नैतिक दंड का रूप—

नैतिक दंड कई तरीके से दिया जाता है। इसका पहला रूप तो यह है कि विद्यार्थी को क्षमा माँगनी पड़ती है। वह अपना अपराध स्वीकार करता है, पश्चात्ताप प्रगट करता है, भविष्य में पुनः अपराध न करने का आश्वासन देता है और क्षमायाचना करता है। इस प्रकार की क्षमायाचना लिखीत और मौखिक दोनों हो सकती है। इसका प्रभाव तभी होता है जब कि अन्य विद्यार्थियों के सामने अपराधी छात्र क्षमायाचना करे। यदि अपराध बड़ा है तो समस्त शिक्षालय के विद्यार्थियों के सामने क्षमायाचना करवानी चाहिए।

नैतिक दंड का दूसरा रूप स्थान-परिर्वतन है। जो विद्यार्थी अपराध करते हैं उन्हें कक्षा के पिछली पंक्ती में बैठाया जा सकता है। लेकिन अनुभव के आधार पर यह ज्ञात हुआ है कि इस प्रकार का स्थान-परिर्वतन अधिक उपयोगी नहीं होता। इसलिए अपराधी छात्र कक्षा में खड़े कर लिए जाते हैं। कुछ को तो कक्षा के कमरे की दीवार की ओर मुंह करके खड़ा कर दिया जाता है। इस प्रकार का नैतिक दंड उपयोगी सिद्ध हुआ हैं।

नैतिक दंड के तीसरे रूप में विद्यार्थी से वे सुविधायें ले ली जाती हैं जो कि उसे प्राप्त हैं। उदाहरण के लिये यदि विद्यार्थी

छात्रावास के अच्छे कमरे में रहता है, तो उसे उस कमरे से निकाल कर ऐसे कमरे में भेजा जाता है जो उससे खराब है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी को छात्रावास से निकाला भी जा सकता है। लेकिन इस प्रकार का दंड देते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि विद्यार्थी को अपराध से अधिक दंड न मिल जाय।

नैतिक दंड का चौथा रूप आधुनिक है और इसका प्रयोग सफलतापूर्वक यूरोप तथा अमेरिका में हो रहा है। अपने देश के अच्छे शिक्षालयों में भी इसका चलन हो गया है। नैतिक दंड के आधुनिक रूप के अनुसार छात्र के प्रगतिपत्र पर उन अवसरों का का उल्लेख कर दिया जाता है, जब कि वह अनुशासन भंग करता है। इस प्रकार प्रत्येक मास में विद्यार्थी जब प्रगतिपत्र अपने माता-पिता अथवा अभिभावक के पास ले जाता है तो घरवालों को उसकी शरारत का पता लग जाता है। विद्यार्थी इसे नहीं पसन्द करता। इसलिए सावधान रहता है और अनुशासन नहीं भंग करता।

निष्कासन—

शिक्षालय में जितने भी प्रकार के दंड दिए जाते हैं, उनमें निष्कासन का स्थान कठोरता की दृष्टि से सबसे ऊँचा है। निष्कासन से बढ़कर विद्यार्थी के लिए कोई दूसरा दंड नहीं होता। यह दंड दो प्रकार से दिया जाता है। एक दशा में विद्यार्थी का नाम काट दिया जाता है और उससे कहा जाता है कि वह दूसरे शिक्षालय में जाकर शिक्षा प्राप्त करे। दूसरी दशा में विद्यार्थी को प्रांतभर के शिक्षालयों में पढ़ने की अनुमति नहीं होती। अतः इस प्रकार के दंड से विद्यार्थी की शिक्षा रुक जाती है। यदि दंड का उद्देश्य विद्यार्थी को सुधारना भी है तो निष्कासन से कोई लाभ नहीं होता। वास्तव में निष्कासन का दंड बहुधा

राजनीतिक आंदोलनों में भाग लेनेवाले विद्यार्थियों को दिया जाता है। जहाँ तक आचरण का सम्बन्ध है उसमें इस दंड का बहुत कम प्रयोग होता है और ऐसा होना भी चाहिए। निष्कासन का दंड उस समय देना चाहिए जब कि अन्य प्रकार के दंड असफल हो चुके हैं और साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि निष्कासन का दंड इस बात का सबूत भी है कि अध्यापकगण विद्यार्थी को सुधारने में असफल रहे हैं। यदि शिक्षालय का अध्यापकवर्ग इस बात को स्वीकार करता है तो ठीक है।

दंड की अन्य बातें—

दंड के विभिन्न रूपों को देख लेने के बाद कुछ ऐसी बातों की ओर ध्यान देना है जो दंड के लिए आवश्यक हैं। यदि इन बातों पर ध्यान दिया जायगा तो दंड का उद्देश्य पूरा होगा। अतः दंड के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं:—

(१) दंड अपराध के अनुसार हो। साधारण अपराध के लिए साधारण दंड होना चाहिए। दंड का रूप क्या हो, यह भी अपराध की दृष्टि निश्चित किया जाना चाहिए।

(२) दंड ऐसा हो जो विद्यार्थी को सुधार सके।

(३) दंड का प्रभाव अन्य विद्यार्थियों पर भी पड़ना चाहिए। अतः दंड एक उदाहरण के स्वरूप हो।

(४) दंड ऐसा न हो जिससे की सामूहिक विरोध की संभावना हो। जो दंड अत्यन्त कठोर और अमानुषिक होते हैं उनका सामूहिक विरोध हड़ताल आदि के रूप में हो जाता है।

(५) शारीरिक दंड साधारणतः प्रधानाध्यापक द्वारा दिया जाना चाहिए और उस समय क्रोध नहीं होना चाहिए।

(६) विद्यार्थी को अपमानित नहीं करना चाहिए। यदि

उसका मज़ाक उड़ाया जाता है और उसे बुद्धू कहा जाता है तो उसका मन पढने में नहीं लगता।

(७) विद्यार्थियों को जो दंड दिया जाय उसका विवरण शिक्षालय के कार्यालय में होना चाहिए। इससे विद्यार्थी के आचरण की गतिविधि का पता रहता है।

(८) उन विद्यार्थियों के अभिभावकों को भी दंड के सम्बन्ध में सूचित करना चाहिए जिन्हें कि दंड दिया गया हो।

(९) दंड का आधार न्याय होना चाहिए और उसमें किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिए।

दंड के सम्बन्ध में यदि इन बातों का ध्यान रखा जायगा तो दंड का उद्देश्य पूरा होगा।

पुरस्कार

पुरस्कार की भावना—

अनुशासन में जो स्थान दंड का है वही पुरस्कार का भी है। दंड उन विद्यार्थियों को मिलता है जो अनुशासन भंग करते हैं और पुरस्कार उन्हें मिलता है जो अनुशासन का पालन करते हैं। यदि दंड से अपराधों को रोका जा सकता है तो पुरस्कार से अच्छी आदतों की ओर आकर्षित किया जा सकता है। इस प्रकार पुरस्कार की उपयोगिता है।

पुरस्कार की इच्छा होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। वह जो कार्य करता है उसके पीछे पुरस्कार की भावना आ जाती है। समाज में यश की प्राप्ति एक प्रकार का पुरस्कार है। यदि कोई व्यक्ति अच्छा काम करता है और समाज की सेवा करता है तो लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। यह प्रशंसा एक प्रकार का पुरस्कार है। इसी प्रकार सरकारी नौकरियों में पद और वेतन की वृद्धि भी पुरस्कार का एक स्वरूप है। यदि पद और वेतन की वृद्धि की व्यवस्था न हो तो सरकारी नौकरियों में अच्छे लोग न जाँय। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज में यश, पद, अधिकार, धन और वेतन आदि पुरस्कार के स्वरूप हैं। यदि ये पुरस्कार न हों तो समाज की प्रगति न हो। पुरस्कार की आशा से ही समस्त कार्य होते हैं। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं जो यह कहें कि हम निष्काम भाव से कार्य करते हैं, हमारे मन में किसी प्रकार के पुरस्कार की इच्छा नहीं है। लेकिन अधिकतर लोग, वरन् निन्नानबे प्रतिशत लोग पुरस्कार की भावना से कार्य करते हैं। पुरस्कार की भावना स्वाभाविक है, इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

पुरस्कार के कारण—

शिक्षालय में पुरस्कार की भावना साधारणतः सभी विद्यार्थियों में होती है। उनकी यह भावना छात्रवृत्ति को प्राप्त करने में देखी जा सकती है। जो विद्यार्थी कक्षा में प्रथम आता है उसे छात्रवृत्ति मिलती है। अतः विद्यार्थी छात्रवृत्ति के पुरस्कार को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। दूसरे जो विद्यार्थी कक्षा में तेज होते हैं, उनका आदर होता है और वह मानीटर नियुक्त होता है। अतः यह आदर भी एक प्रकार का पुरस्कार है और इसके लिए छात्र प्रयत्नशील होते हैं। अध्यापक की प्रशंसा भी विद्यार्थियों के लिए पुरस्कार का कार्य करती है। विद्यार्थी चाहते हैं कि अध्यापक और अभिभावक उन्हें प्रोत्साहन दें। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों में कर्त्तव्य की भावना भी होती है। जब वे किसी काम को भलीभाँति कर लेते हैं, तब उन्हें खुशी होती है। उनकी यह प्रसन्नता एक पुरस्कार है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यार्थी चार तरह के पुरस्कार के कारणों से प्रभावित होकर कार्य करते हैं। यदि इन चार कारणों की उपयोगिता देखी जाय तो हमें ज्ञात होगा कि पहला पुरस्कार जो छात्रवृत्ति के रूप में है, वह साधारण स्तर का है। कक्षा के सभी विद्यार्थी इस पुरस्कार को प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए दो या तीन विद्यार्थी इसके लिए प्रयत्नशील होते हैं। पुरस्कार का दूसरा कारण आदर के रूप में है। जो विद्यार्थी कक्षा में तेज होते हैं उनका आदर अन्य विद्यार्थी करते हैं। इससे विद्यार्थियों में पढ़ने की ओर इच्छा हो सकती है। पर इस आदर को कुछ ही विद्यार्थी पा सकते हैं। तीसरे प्रशंसा के कारण अधिक विद्यार्थियों में कार्य की ओर रुचि होती है। इसलिए उचित अवसर पर प्रशंसा वांछनीय होती है। लेकिन इन सब से अधिक उपयोगिता कर्त्तव्य-पालन की भावना में है। यदि

विद्यार्थी कर्त्तव्य-पालन ही को पुरस्कार का कारण मानने लगे तो बड़ा अच्छा हो। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि वह कर्त्तव्य-पालन के कारण को महत्व दे।

पुरस्कार के प्रकार—

पुरस्कार के कारणों से सम्बद्ध पुरस्कार के स्वरूप भी हैं। अतः जितने प्रकार के पुरस्कार हो सकते हैं उनका उल्लेख यहाँ कर देना आवश्यक है। पुरस्कार के स्वरूप को निश्चित करने में हमें उस समय सहायता मिलती है जब कि हम शिक्षा के शारीरिक, मानसिक और नैतिक पक्ष का ध्यान रखते हैं। अतः शारीरिक विकास की दृष्टि से खेल-कूद और व्यायाम में प्रथम कोटि के विद्यार्थियों को पुरस्कार दिया जा सकता है। इस प्रकार के पुरस्कारों से विद्यार्थियों की रुचि व्यायाम और खेल-कूद में अधिक होती है।

मानसिक और बौद्धिक विकास की दृष्टि से कक्षा में उपस्थिति आवश्यक है जो विद्यार्थी सदा उपस्थित रहता है उसे पुरस्कार मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त पढ़ने-लिखने में तेज विद्यार्थियों को भी पुरस्कार मिलना चाहिए। इन पुरस्कारों के कारण विद्यार्थियों का मन अध्ययन में लगता है।

नैतिक विकास की दृष्टि से जो विद्यार्थी अच्छे चरित्र का है और जिससे सभी लोग प्रसन्न रहते हैं उसे शिक्षालय का सर्वोत्तम विद्यार्थी घोषित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त समाज-सेवा और सदाचार के लिए भी विद्यार्थियों को पुरस्कार दिए जा सकते हैं। इस प्रकार शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के पुरस्कार हो सकते हैं।

प्रशंसा—

पर इन पुरस्कारों का स्वरूप क्या हो? क्या धन के रूप में

पुरस्कार दिए जायँ ? इस सम्बन्ध में पुरस्कार के स्वरूप निश्चित किए जा सकते हैं। पहला स्वरूप तो प्रशंसा का है। जो अच्छा कार्य करता है उसकी प्रशंसा होनी चाहिए। प्रशंसा का प्रभाव समूह के सामने होता है। अध्यापक कक्षा में कहता है कि अमुक विद्यार्थी मन लगाकर पढ़ता है और उसका अनुकरण करना चाहिए। इसी प्रकार शिक्षालय की सामूहिक प्रार्थना के समय भी उन विद्यार्थियों की प्रशंसा की जा सकती है जो अच्छा कार्य कर रहे हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई विद्यार्थी समाज-सेवा और स्काउटिंग में भाग लेता है तो उसकी प्रशंसा होनी चाहिए।

सुविधायें—

जो विद्यार्थी अच्छी तरह मन लगाकर अध्ययन करते हैं और खेल-कूद में भाग लेते हैं उनके लिए कुछ सुविधाओं की व्यवस्था की जा सकती है। उदाहरण के लिए पुस्तकालय से उन विद्यार्थियों को दो या तीन पुस्तकें लेने का अधिकार होगा जो अध्ययन में मन लगाते हैं। इसी प्रकार खेल की प्रथम टीम में प्रथम श्रेणी के खिलाड़ियों को स्थान मिलेगा। इनके अतिरिक्त कक्षा में मानीटर अथवा प्रीफेक्ट का पद, छात्रावास में अच्छा कमरा और छात्रवृत्ति भी सुविधाओं के रूप में हैं।

पदक—

जो विद्यार्थी उपस्थिति में सर्वप्रथम है, उसे उपस्थिति का पदक देना चाहिए। इसी प्रकार स्वच्छता और और समय-पालन का भी पदक हो सकता है। इस प्रकार के अन्य पदक भी निर्धारित किए जा सकते हैं जो शिक्षालय के वार्षिकोत्सव के अवसर पर प्रदान किए जा सकते हैं।

प्रगतिपत्र में उल्लेख—

प्रगति पत्र में विद्यार्थी के अच्छे कार्यों का उल्लेख भी पुरस्कार

का स्वरूप है। इसके लिए अंक दिए जाने चाहिए। उदाहरण के लिए सदाचार, समय-पालन, स्वच्छता और व्यवहार के लिए अंक नियत किए जा सकते हैं और जिस प्रकार परीक्षा के प्रश्नों में अंक दिए जाते हैं, और जिस प्रकार परीक्षा के प्रश्नों में अंक दिए जाते हैं उसी प्रकार इनके लिए भी अंक दिए जाने चाहिएँ और उनका उल्लेख प्रगतिपत्र पर होना चाहिए।

प्रमाणपत्र—

प्रमाणपत्र भी पुरस्कार का एक स्वरूप है। प्रमाणपत्र की आवश्यकता विद्यार्थियों को पड़ती है। जब वे किसी कालेज अथवा विश्वविद्यालय में भर्ती होना चाहते हैं तो उस समय उन्हें प्रमाणपत्र की आवश्यकता होती है। अतः प्रमाणपत्र देना चाहिए। प्रमाणपत्र की व्यवस्था में कई सुविधायें हैं। इनके लिए न तो धन की आवश्यकता होती है और न तो इनकी संख्या नियत है। अतः विभिन्न प्रकार के प्रमाणपत्र विभिन्न संख्या में दिए जा सकते हैं। जो विद्यार्थी खेलने में अच्छा है उसे खेल का प्रमाणपत्र, जो अध्ययन में अच्छा है उसे अध्ययन का प्रमाणपत्र और जो समाज सेवा का कार्य करता है उसे समाज-सेवा का प्रमाणपत्र दिया जा सकता है।

उपयोगी वस्तुएँ—

विद्यार्थियों को पुरस्कार के स्वरूप ऐसी वस्तुएँ भी दी जा सकती हैं, जिनका कि वे उपयोग करते हैं। उदाहरण के लिए पुस्तकें, नोट-बुक कलम-पेंसिल इत्यादि। उपयोगी वस्तुओं को पुरस्कार के स्वरूप में देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह जिस कार्य के लिए दी जा रही हों उनसे उनका सम्बन्ध हो। जो विद्यार्थी खेल में तेज है, वह पुस्तक के स्थान खेल का कोई सामान पसन्द करता है। इसी प्रकार जो विद्यार्थी

अध्ययनशील है, वह पुस्तकें पसन्द करता है। अतः कार्य के अनुरूप ही उपयोगी वस्तुओं का पुरस्कार होना चाहिए।

सामूहिक पुरस्कार—

विभिन्न कक्षाओं में उपस्थिति, स्वच्छता और समाज-सेवा की दृष्टि से प्रतियोगिता का आयोजन किया जा सकता है। यह प्रतियोगिता प्रतिमास हो सकती है। जिस कक्षा में उपस्थिति सबसे अच्छी हो उसे विजय-पताका दी जाय। अतः वह पताका प्रतिमास विभिन्न कक्षाओं को मिलती रहेगी। इस प्रकार के सामूहिक पुरस्कार की व्यवस्था शील्ड के रूप में भी हो सकती है। अतः सामूहिक पुरस्कार की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए क्योंकि इससे सामूहिक भावना का प्रसार होता है। इस दृष्टि से पारितोषिकोत्सव (Prize Distribution) भी आवश्यक है। ऐसे उत्सवों का प्रबन्ध भलीभाँति होना चाहिए और जहाँ तक हो सके प्रबन्ध-कार्य विद्यार्थियों द्वारा ही कराना चाहिए।

पुरस्कार की आलोचना—

पुरस्कार की आलोचना कई दृष्टियों से की जाती है। पुरस्कार के विरोधियों का विचार है कि पुरस्कार एक प्रकार का लोभ उत्पन्न करता है और इससे विद्यार्थियों में वास्तविक कर्त्तव्य-पालन की भावना का विकास नहीं होता। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि जो अनुशासन पुरस्कार के बल पर रहता है वह बनावटी और खोखला होता है। पुरस्कार द्वारा होने वाली हानियों की सूची में यह भी है कि पुरस्कार का लाभ केवल कुछ विद्यार्थियों को ही होता है। इसलिए सब का ध्यान पुरस्कार की ओर नहीं होता। इस प्रकार पुरस्कार के आलोचक पुरस्कार को

हानिकर बतलाते है और शिक्षा की दृष्टि से अनावश्यक और घातक मानते हैं। घातक मानने का कारण यह है कि इससे आपस में होड़ और प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ती है।

पुरस्कार की अन्य बातें—

पुरस्कार को जो लोग हानिकर कहते हैं, उन सब का उत्तर भी दिया जा सकता है। लेकिन यह सत्य है कि पुरस्कार के सम्बन्ध में आवश्यक सावधानी से काम लेना चाहिए। यदि सावधानी से काम नहीं लिया जाता तो लाभ के स्थान पर हानि होती है। इस दृष्टि से निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं:—

(१) पुरस्कार वास्तविक योग्यता के आधार पर दिये जायँ। वास्तविक योग्यता से यहाँ तात्पर्य बौद्धिक योग्यता और परिश्रम दोनों के सम्मिलित रूप से है।

(२) पुरस्कार अधिक मूल्य का न हो। दूसरे शब्दों में पुरस्कार का महत्त्व पुरस्कार में दी जानेवाली वस्तु के मूल्य पर न आँकी जाय, वरन् उस कार्यविशेष से आँका जाय, जिसके लिए पुरस्कार दिया जा रहा हो। कीमती पुरस्कार लोभ का कारण बनता है।

(३) पुरस्कारों की संख्या सीमित होनी चाहिए। यदि सभी विद्यार्थियों को कोई न कोई पुरस्कार मिल जाता है तो उसका महत्त्व कम हो जाता है।

(४) पुरस्कार ऐसा हो जिसके लिए विद्यार्थियों को विशेष प्रयास करना पड़े। यदि बिना किसी प्रयास के पुरस्कार मिल जाता है तो उसका कोई महत्त्व नहीं होता।

(५) प्रारम्भिक कक्षाओं में पुरस्कार का वितरण वर्ष में तीन चार बार होना चाहिए। इससे छोटे बालकों का ध्यान कार्य की ओर रहता है।

(६) पुरस्कार द्वारा आपसी द्वेष उत्पन्न न होने देना चाहिए। पुरस्कार का उद्देश्य उत्साहित करना है और सहयोग की भावना उत्पन्न करना है।

(७) पुरस्कार अधिकतर ऐसे विषयों के लिए देना चाहिए जिनकी ओर विद्यार्थियों की रुचि कम होती है। खेल की ओर विद्यार्थियों की रुचि अधिक होती है। अतः इसके लिए अधिक पुरस्कार की आवश्यकता नहीं है।

(८) अध्यापक को चाहिए कि कक्षा में उचित अवसर पर किसी न किसी पुरस्कार की घोषणा कर दे। ऐसा करने से विद्यार्थी सदा तत्पर रहते हैं।

(९) पुरस्कार ऐसा हो जो व्यक्तिगत भावना के साथ साथ सामूहिक भावना के भी अनुकूल हो। उदाहरण के लिए यदि किसी कक्षा के एक विद्यार्थी को पुरस्कार मिलता है तो उस कक्षा के सभी विद्यार्थी उस पुरस्कार से प्रसन्न होते हैं।

(१०) पुरस्कार का आधार निष्पक्षता होना चाहिए। अध्यापक की निष्पक्ष प्रशंसा का वास्तविक प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरस्कार का प्रयोग उचित सावधानी के साथ करना चाहिए। पुरस्कार द्वारा शिक्षा का कार्य सरल हो सकता है और प्रगति में वृद्धि हो सकती है। अतएव पुरस्कार का एक निश्चित स्थान है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्वशासन

स्वशासन और अनुशासन—

अनुशासन और दंड पुरस्कार की व्यवस्था शिक्षालय-प्रबन्ध के लिए आवश्यक है। शिक्षालय में अनुशासन है अथवा नहीं इसे प्रधानाध्यापक और अध्यापक देखते हैं क्योंकि अनुशासन एक ऐसी वस्तु के समान है जो विद्यार्थियों को 'प्रदान' की जाती है। दूसरे शब्दों में विद्यार्थियों को अनुशासन मानना पड़ता है, वे मानते नहीं। यदि हम 'मानना पड़ता है' और 'मानते हैं' के अंतर को समझ सकें तो अनुशासन को भी समझ सकेंगे। इस प्रकार स्वशासन विद्यार्थियों की इच्छा से स्थापित होता है। वे चाहते हैं कि नियम का पालन हो। जब इनमें इस प्रकार की भावना आ जाती है तो शिक्षालय का कार्य स्वशासन के अनुसार चलता है। स्पष्ट है कि स्वशासन अनुशासन से अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि इसमें किसी प्रकार का बंधन नहीं है। स्वशासन अपनी इच्छा अपने 'स्व' के आधार पर चलनेवाला शासन है।

सहयोग की भावना—

लेकिन स्वशासन का स्थापित होना सरल नहीं है। इसके लिए ऐसे वातावरण का निर्माण करना होता है जिसमें स्वशासन का विकास हो सके। यदि हम स्वशासन के लिए उचित वातावरण का निर्माण करना चाहते हैं तो विद्यार्थियों में सहयोग की भावना उत्पन्न करें। विद्यार्थियों में सहयोग की भावना उसी समय उत्पन्न होती है जब उनमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं होता। जब मैं भेद-भाव का उल्लेख करता हूँ तो मेरे सामने विभिन्न जातियों और धर्मों के लोग आ जाते हैं। शिक्षालय में हिन्दू, मुसलमान,

ईसाई आदि विद्यार्थी पढ़ते हैं। अतः अध्यापक को चाहिए कि वह भिन्नता में एकता का अनुसरण करे। उसका व्यवहार सभी धर्मों के विद्यार्थियों के साथ एक प्रकार का होना चाहिए। इसी तरह हरिजन तथा अन्य पिछड़ी जातियों के विद्यार्थियों के साथ भी ऐसा व्यवहार हो कि वे अपने को अलग न समझें। जब शिक्षालय में जाति भेद और धर्म-भेद न होगा तभी वास्तविक सहयोग संभव हो सकेगा। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि पहले वह अपने को इन भेद-भावों से मुक्त करे और फिर विद्यार्थियों से कहे। तभी उनकी बातों में प्रभाव होगा। जब मैं जाति-भेद का विरोध करता हूँ तो मेरे सामने सहयोग का प्रश्न होता है। मैं सहयोग के लिए जाति-भेद को हानिकर देखता हूँ। हमारा और आपका यह दैनिक अनुभव है। इसलिए जाति-भेद को मानते हुए जो व्यक्ति सहयोग की इच्छा करता है। वह ढोंगी है। अतः स्वशासन के निमित्त हमें सभी प्रकार के भेद-भावों को मिटाकर सहयोग की भावना का विकास करना होगा।

दूसरों के प्रति सम्मान—

स्वशासन के अनुकूल वातावरण में एक दूसरे का आदर होता है। जब आप किसी का सम्मान करते हैं, तभी आपको सम्मान मिलता है। यदि कोई निरादर करता है तो उसे निरादर मिलता है। स्पष्ट है और यह प्रकृति का नियम है कि जैसा करनी वैसी भरनी। इसलिए जब तक प्रत्येक विद्यार्थी में एक दूसरे के प्रति आदर की भावना नहीं आती तब तक स्वशासन के अनुकूल वातावरण नहीं बन सकता। यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जब हम दूसरे के प्रति सम्मान की भावना की बात करते हैं तो उस समय केवल सम्मान के प्रदर्शन का प्रश्न हमारे सामने नहीं है वरन सम्मान की भावना को हम सभी रूपों से स्वीकार करते

है। उदाहरण के लिए यदि हम चाहते हैं कि सम्मान की भावना रखे तो इसके लिए हमें मन, वचन और कर्म से प्रयास करना होगा। हमारे मन में किसी के प्रति विरोध न हो। विरोध तो तभी होता है जब मतभेद है। मतभेद तब नहीं होता जब कि हम दूसरे की बात समझते हैं। इसलिए हमें मन में किसी के प्रति कोई विरोध नहीं रखना चाहिए। वचन के द्वारा भी सम्मान प्रगट होता है। मधुर और उपयुक्त वाणी बोलना, अनावश्यक बातें न कहना, पीठ पीछे बुराई न कराना आदि बातें वचन का धर्म है। इसलिए उचित वचन का व्यवहार सम्मान के लिए आवश्यक है।

दूसरे के प्रति सम्मान की अभिव्यक्ति कर्म के द्वारा भी होती है। हम ऐसा कोई काम न करें जिससे कि किसी की हानि हो। इतना ही नहीं कि दूसरों की हानि न हो, वरन् हम ऐसा काम करें जिससे कि दूसरों की सहायता हो। स्वशासन के लिए यह बड़ी बात है। विद्यार्थियों में जब इस प्रकार की भावना उत्पन्न होगी तभी स्वशासन के अनुकूल वे होंगे। अतः अध्यापक का यह कर्तव्य है कि वह विद्यार्थियों को भलीभाँति समझा दे कि दूसरों के प्रति सम्मान, मन, वचन और कर्म से होना चाहिए।

प्रीफेक्ट-प्रथा—

स्वशासन के लिए उपयुक्त वातावरण जब उपस्थित हो जाता है तब स्वशासन को कार्यान्वित करने का प्रश्न उठता है। स्वशासन को चलाने के लिए 'स्व' की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि शिक्षालय के शासन में विद्यार्थियों को अपनी राय व्यक्त करने का अधिकार हो और यह अधिकार तभी मिलता है जब कि स्वशासन के लिए उपयुक्त वातावरण बनाने में विद्यार्थी सहायक होता है। यदि विद्यार्थी में सहयोग की

भावना नहीं है और वह दूसरों के प्रति सम्मान नहीं रखता तो उसे स्वशासन में भाग लेने का अधिकार नहीं मिलता क्योंकि कोई भी अधिकार कर्त्तव्य-पालन से ही मिलता है। कर्त्तव्य ही अधिकार प्रदान करता है। अतः जब स्वशासन में अधिकार को स्थान दिया जाता है तब कर्त्तव्य की ओर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

विद्यार्थियों का स्वशासन कार्यान्वित करने में प्रीफेक्ट-प्रथा सहायक होती है। प्रीफेक्ट एक अंगरेजी शब्द है जिसके अर्थ नायक के हैं। अतः विद्यार्थियों के नायक को प्रीफेक्ट कहते हैं। कक्षा के विद्यार्थियों के बीच में से प्रीफेक्ट चुना जाता है जो विद्यार्थी प्रीफेक्ट चुना जाता है उसमें नायक के गुण होते हैं। एक अच्छा नायक वही होता है जिसे सब मानते हों और जो सबका विश्वास पात्र हो। इस प्रकार कक्षा के बीच प्रीफेक्ट एक नेता के समान होता है जो विद्यार्थियों के स्वशासन को चलाता है। वास्तव में प्रीफेक्ट विद्यार्थियों के स्वशासन का प्रतीक है। इसलिए शिक्षा-शास्त्रियों का मत है कि विद्यार्थियों को स्वशासन की शिक्षा देने में प्रीफेक्ट प्रथा सहायक होती है। थ्रिंग महोदय का विचार है कि स्वशासन का उद्देश्य प्रत्येक शिक्षालय अपने जीवन तथा नियमों द्वारा निर्धारित करता है। इस स्वशासन को चलाने के लिए विद्यार्थियों में प्रीफेक्ट होते हैं।* इस प्रकार प्रीफेक्ट प्रथा के महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं क्योंकि इसके द्वारा विद्यार्थियों को स्वशासन की शिक्षा मिलती है और विद्यार्थी

---

* "Self-government is the object a great school proposes to itself in its life and laws, and prefects are the machinery for carrying out this self-government among the boys themselves."—Thring.

अपना शासन आप चलाते हैं। इसलिए प्रत्येक शिक्षालय में प्रीफेक्ट प्रथा का होना आवश्यक है।

प्रीफेक्ट की नियुक्ति—

प्रीफेक्ट का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसलिए प्रीफेक्ट के चुनाव में पूरी सावधानी की आवश्यकता है। इस सावधानी के निमित्त अध्यापक को चाहिए कि वह किसी विद्यार्थी को प्रीफेक्ट बनाने में जल्दी न करे। यदि नियुक्ति में शीघ्रता की जाती है तो आयोग्य विद्यार्थी प्रीफेक्ट बन सकता है। इसलिए प्रीफेक्ट के चुनाव के लिए पर्याप्त समय देना चाहिए जिससे कि प्रत्येक विद्यार्थी एक दूसरे को समझ सके और अध्यापक स्वयं भी जान सके कि कौन विद्यार्थी प्रीफेक्ट पद के लिए उपयुक्त है।

प्रीफेक्ट की योग्यता—

प्रीफेक्ट पद के लिए वही विद्यार्थी योग्य होता है जिसमें नेतृत्व के गुण होते हैं। नेतृत्व के लिए समस्याओं में तत्काल समझना और उपयुक्त कार्य करना आवश्यक है। उपयुक्त अवसर पर कार्य करने के निमित्त निर्णय-शक्ति आवश्यक है। अतः प्रीफेक्ट की योग्यता में नेतृत्व, विचारशक्ति, निर्णयशक्ति, और आरम्भशक्ति सम्मिलित है। आरंभशक्ति से हमारा तात्पर्य आगे बढ़कर काम करने से है। बहुधा यह होता है कि लोग पहले काम करने में हिचकते हैं। लेकिन जब कोई काम को शुरू कर देता है तो उसमें सबका हाथ लग जाता है। प्रीफेक्ट में चरित्र बल भी होना चाहिए। चरित्र बल के प्रभाव से वह विद्यार्थियों पर नियंत्रण रख पाता है। इसलिए जो विद्यार्थी प्रीफेक्ट बनाया जाय, उसका चरित्र भी आदर्श होना चाहिए। प्रीफेक्ट के पद के लिए जो विद्यार्थी हो उसे पढ़ने लिखने में भी प्रथम श्रेणी का होना चाहिए। इस प्रकार प्रीफेक्ट का पद कक्षा

में सर्व श्रेष्ठ विद्यार्थी को मिलना चाहिए। दूसरे शब्दों में कोई विद्यार्थी सर्व श्रेष्ठ है, इसका प्रमाण प्रीफेक्ट का पद होना चाहिए। जब प्रीफेक्ट पद की योग्यता इस प्रकार निश्चित हो जाती है, तब चुनाव में किसी प्रकार की अड़चन नहीं होती। सभी विद्यार्थी जानते हैं कि कक्षा में सर्व श्रेष्ठ विद्यार्थी कौन है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि शिक्षालय को ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों को ही प्रीफेक्ट का पद देना चाहिए। इस सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि प्रत्येक कक्षा के लिए प्रीफेक्ट होना चाहिए। ऐसा होने से प्रत्येक प्रीफेक्ट अपनी कक्षा की आवश्यकताओं को भली भाँति समझता है और वह अध्यापक को सूचित करता है। इसलिए प्रत्येक कक्षा का प्रीफेक्ट होना चाहिए।

प्रीफेक्ट का कार्य—

प्रीफेक्ट का कार्य है शिक्षालय के अनुशासन को स्वशासन के समान रखना। विद्यार्थियों को यह अनुभव न हो कि उनके ऊपर कोई बात लादी जा रही है। इसलिए प्रीफेक्ट का कार्य यह है कि शासन सम्बन्धी बातों को विद्यार्थियों के सामने रखे और उनसे इस प्रकार शासन करावे कि वे स्वशासन के रूप में समझे। यह तो स्पष्ट ही है कि स्वशासन वह शासन है जिसमें किसी को कुछ कहने का अधिकार हो। समाज में लोकतंत्र का आधार ही यही है। अतः शिक्षालय रूपी नगर में स्वशासन रूपी लोकतंत्र का संचालन करना प्रीफेक्ट का कार्य है। प्रधानाध्यापक समय समय पर अथवा मास मे एक बार सभी कक्षाओं के प्रीफेक्टों की बैठक करता है और उसमें बातें पूछता है। इस प्रकार विद्यार्थियों और अध्यापक वर्ग के बीच प्रीफेक्ट एक कड़ी का काम करते हैं। अध्यापकों के विचारों का ज्ञान विद्यार्थियों को और विद्यार्थियों के विचारों का ज्ञान अध्यापकों को कराना प्रीफेक्ट का कार्य है।

प्रीफेक्ट का कार्य यह भी है कि अध्यापक की अनुपस्थिति में कक्षा में शांति बनाये रखे और विद्यार्थियों को किसी कार्य में व्यस्त रखे। उदाहरण के लिए जिस विषय का घंटा हो, उस विषय का पिछला पाठ विद्यार्थी दुहरा सकते हैं। अतः इस प्रकार की व्यवस्था करना भी प्रीफेक्ट का कार्य है।

शिक्षालय-प्रबंध की दृष्टि से यह आवश्यक है कि प्रीफेक्ट का एक बैज हो। उस बैज से प्रीफेक्ट को तुरन्त पहिचान सकते हैं। इसलिए प्रीफेक्ट का एक बैज भी नियत करना चाहिए।

शिक्षालय-समिति—

शिक्षालय के स्वशासन में शिक्षालय समिति का प्रमुख स्थान है। जिस प्रकार प्रत्येक नगर में म्युनिसिपल बोर्ड होते हैं, अथवा प्रांत में धारा सभा होती है उसी प्रकार शिक्षालय में शिक्षालय-समिति का भी एक संगठन होना चाहिए। शिक्षालय समिति के सभी विद्यार्थी सदस्य होते हैं और वे समिति के पदाधिकारियों का चुनाव करते हैं। समिति में सभापति, उपसभापति, प्रधान मंत्री और सहायक मंत्री का साधारणतः चुनाव होना चाहिए। इसके अतिरिक्त पाँच अथवा सात सदस्यों की एक कार्यसमिति होनी चाहिए। जब इस प्रकार शिक्षालय समिति का संगठन हो जाता है, तब समिति के द्वारा शिक्षालय के अनुशासन को स्वशासन के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है जिस प्रकार न्यायालय में अपराधी को दंड मिलता है, उसी प्रकार शिक्षालय समिति भी अपराधी को दंड दे सकती है। इस प्रकार शिक्षालय समिति विद्यार्थियों से सम्बन्धित सभी कार्यों को करती है। पर यह भी कार्य जो कि शिक्षालय-समिति करती है उसके लिए अध्यापक वर्ग की सम्मति प्राप्त होती है। समिति द्वारा ऐसा कोई कार्य नहीं होता जो अध्यापक वर्ग की इच्छाओं के विरुद्ध

होता है। विरोध का कोई अवसर ही नहीं आ सकता यदि सहयोग की भावना हो और एक दूसरे के विचारों को समझने की इच्छा हो। अतः जब शिक्षालय समिति के संचालन में कठिनाइयाँ उपस्थित हों तो उस समय अवरोध के कारण को समझना चाहिए। यदि कठिनाइयों पर तटस्थ होकर विचार न किया गया तो कार्य नहीं हो सकता। यहाँ यह आवश्यक नहीं है कि आनेवाली कठिनाइयों की कल्पना की जाय। कठिनाइयाँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं। लेकिन उन्हें दूर उसी समय किया जा सकेगा यदि विद्यार्थी-समुदाय और अध्यापक वर्ग सोच-समझ कर निर्णय करेंगे। इसके लिए प्रयास की आवश्यकता है। अध्यापकों को विद्यार्थी समुदाय का सहयोग उसी समय प्राप्त होता है जब कि वे अपने व्यवहार से उनके विश्वासपात्र बन जाते हैं। अतः विद्यार्थी-समुदाय के साथ अध्यापक वर्ग के सम्बन्ध का आधार नैतिक होना चाहिए। तभी शिक्षालय में स्वशासन कार्य कर सकेगा।

स्वशासन का प्रभाव—

शिक्षालय में स्वशासन का प्रभाव उस समय दिखाई देता है जब कि अनुशासन बिना किसी प्रकार के प्रयास से स्थापित रहता है। अंगरेजी मे एक शब्द 'टोन' है। टोन का तात्पर्य उस भावना से है जिससे कि अध्यापक वर्ग और विद्यार्थी-समुदाय का सम्बन्ध स्नेह पूर्ण होता है। किसी के मन में किसी प्रकार का द्वेष नहीं होता। अध्यापक वर्ग शिक्षालय के लिए सब कुछ करने को प्रस्तुत होता है और विद्यार्थी वर्ग भी शिक्षालय के सम्मान के विकास में प्रयत्नशील होता है। इस प्रकार स्वशासन के प्रभाव से शिक्षालय का 'टोन' श्रेष्ठ होता है क्योंकि सभी मिलकर शिक्षालय की प्रगति के लिए कार्य करते हैं। उनके सामने शिक्षालय की उन्नति

का लक्ष्य होता है और इसके लिए वे सब कुछ करने को तैयार होते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षालय में स्वशासन के विकास की ओर ध्यान दिया जाय। जब स्वशासन का विकास होता है तब शिक्षालय के 'टोन' अर्थात् नैतिक गुणों का भी विकास होता है। इसलिए प्रसिद्ध विद्वान् ब्रे का भी मत है कि 'टोन' शिक्षालय के नैतिक गुणों की ऐच्छिक और अनैच्छिक अभिव्यक्ति है।* अतः जिस शिक्षालय में 'टोन' का अभाव होता है, वह शिक्षालय शिक्षालय नहीं होता। इससे यह भी ज्ञात होता है कि अध्यापक वर्ग कितना अयोग्य है, और प्रधानाध्यापक कितना मूर्ख है। योग्य प्रधानाध्यापक अपने अध्यापकों के सहयोग से विद्यार्थियों के स्वशासन की व्यवस्था करता है और इस प्रकार वह शिक्षालय के 'टोन' को बनाता है।

---

* Tone is both voluntary and involuntary mani festation of moral attributes of a School.—Bray.

वर्गीकरण

आवश्यकता—

जब शिक्षालय में कोई विद्यार्थी पढ़ने के लिए आता है तो उस समय यह समस्या उपस्थित होती है कि किस कक्षा में रखा जाय। इसके लिए साधारणतः उसकी योग्यता की जाँच की जाती है और उस जाँच के आधार पर विद्यार्थी को उपयुक्त कक्षा में भर्ती कर देते हैं। इस प्रकार जब विद्यार्थी आता है तो उसका वर्गीकरण योग्यता के आधार पर होता है। वर्गीकरण के लिए बहुधा आयु को भी आधार मान लेते हैं। यदि बालक की आयु ६ वर्ष की है तो उसे कक्षा एक में भर्ती कर दिया जाता है और उसकी योग्यता की जाँच नहीं की जाती। लेकिन वर्गीकरण के लिए उचित क्या है इसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। प्रत्येक बालक की मानसिक आयु और वास्तविक आयु में अंतर होता है। मनोविज्ञान के अध्ययन से यह भली भाँति ज्ञात हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि वर्गीकरण के समय मानसिक आयु और वास्तविक आयु के अंतर को देखा जाय। लेकिन होता क्या है? सामूहिक शिक्षा होती है और फिर सामूहिक परीक्षा। इससे बालक की व्यक्तिगत योग्यता का विकास भली भाँति नहीं हो पाता। इस स्थान पर व्यक्तिगत और सामूहिक शिक्षा का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। व्यक्तिगत शिक्षा होनी चाहिए, इसे सभी स्वीकार करते हैं। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से यह संभव नहीं है। यदि बालकों के वर्ग बना दिए जाते हैं तो एक अध्यापक लगभग तीस विद्यार्थियों को एक समय और एक साथ शिक्षा दे सकता है।

वर्गीकरण से लाभ—

जो लोग वर्गीकरण के पक्ष में हैं, वे इससे कई लाभ बताते हैं। इनके अनुसार जब बालकों का एक वर्ग एक साथ पढ़ता है तो उनमें आपसी मेल बढ़ता है। दूसरे शब्दों में उनमें सामूहिक भावना का विकास होता है। एक कक्षा के विद्यार्थियों में साथ मिलकर काम करने का उत्साह होता है और साथ ही उनमें यह इच्छा भी उत्पन्न होती है कि एक छात्र दूसरे छात्र से बढ़ जाय। वर्गीकरण से आर्थिक लाभ बताते हुए समर्थकों का कथन है कि एक अध्यापक लगभग तीस विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करता है। इस प्रकार अधिक अध्यापकों की आवश्यकता नहीं होती।

वर्गीकरण से हानि—

लेकिन जो लोग वर्गीकरण के विरोधी हैं वे इसकी हानियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। उनका कथन है कि जब विद्यार्थियों के विभिन्न वर्ग बना दिए जाते हैं तो बालक की रुचि की अवहेलना होती है। उन्हें उनकी रुचि के अनुसार शिक्षा नहीं दी जा सकती। एक बालक जिसकी रुचि एक विषय में है, उसे उसी समय दूसरे विषय की शिक्षा दी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि रुचि के प्रतिकूल बालक को शिक्षा ग्रहण करना पड़ता है।

मानसिक आयु की भिन्नता बालकों में होती है एक ही कक्षा में तीव्र और मंद बुद्धि के बालक होते हैं। तीव्र बुद्धि का बालक कम समय में शिक्षा ग्रहण कर लेता है और मंद बुद्धि के बालक के लिए अधिक समय की आवश्यकता होती है। इस प्रकार तीव्र बुद्धि के बालक का समय नष्ट होता है। यदि अध्यापक

मंद बुद्धि के बालक की ओर ध्यान नहीं देता तो उसकी भी शिक्षा भलीभाँति नहीं हो पाती। वास्तव में जब एक ही कक्षा में तीव्र और मंद बुद्धि के बालक एक साथ पढ़ते हैं तो वे वही समस्या उपस्थित करते हैं जब कि एक गाड़ी में घोड़े और गधे को एक साथ जोत देते हैं। जिस गाड़ी में घोड़ा और गधा एक साथ जुता हो, वह ठीक से चल ही नहीं सकती। इसी प्रकार तीव्र और मंद बुद्धि के बालकों को एक साथ जब शिक्षा दी जाती है तो परिणाम अच्छा नहीं होता।'

कक्षा प्रबन्ध की दृष्टि से भी कठिनाई उपस्थित होती है। अध्यापक के लिए यह असंभव होता है कि वह सभी विद्यार्थियों को जान सके और उनसे सम्पर्क स्थापित कर सके। सम्पर्क के अभाव से अध्यापक को विद्यार्थियों के चरित्र का वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता। वह यह भी नहीं जान पाता कि कौन विद्यार्थी चरित्रहीन है और कौन विद्यार्थी ग़लत मार्ग पर जा रहा है। इस प्रकार जब विद्यार्थियों का वर्गीकरण होता है तो कई प्रकार की हानियाँ होने लगती हैं।

लेकिन यह भी सत्य है कि वर्गीकरण अथवा सामूहिक शिक्षा की हानियों को रोकने का उपाय केवल व्यक्तिगत शिक्षा नहीं है क्योंकि व्यक्तिगत शिक्षा में व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। इसलिए शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान इस समस्या की ओर गया और उन्होंने वर्गीकरण के दोषों को दूर करने के उपाय निकाले। नवीन शिक्षा की जितनी पद्धतियाँ है और संगठन में जितने भी परिवर्तन उपस्थित हुए हैं वे सब व्यक्तिगत और सामूहिक शिक्षा में सामंजस्य स्थापित करने को दृष्टि से भी हुए हैं। अतः यह आवश्यक है कि हम इस प्रकार की पद्धतियों से भी परिचित हों ले जो सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा करती हैं।

बटाविया प्रथा—

व्यक्तिगत और सामूहिक शिक्षा में सामंजस्य स्थापित करने के लिए बटाविया-प्रथा को चलाया गया। इस प्रथा को चलाने वाले बटाविया के जो न्यूयार्क प्रांत में हैं, शिक्षा सुपरिन्टेन्डेन्ट श्री जान केनेडी थे। आपने सन् १८९८ में इस बात का प्रयास किया कि कक्षा में एक साथ शिक्षा देने से जो हानियाँ होती हैं, वे दूर हो जाँय। अतः आपने ऐसा प्रबन्ध किया कि कक्षा का अध्यापक विद्यार्थियों को स्वाध्याय करने का समय दे और उसकी जो कठिनाई हो उसे दूर कर दे। इस प्रकार कक्षा के विद्यार्थियों की ओर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता है। बटाविया प्रथा में ऐसा भी होता है कि कक्षा के दो भाग कर दिए जाते हैं। एक भाग को जब सामूहिक रूप से शिक्षा दी जाती है तो उस समय दूसरा भाग स्वाध्याय में लगा रहता है। इस प्रकार विद्यार्थियों की शिक्षा की व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार से चलाने की कोशिश इस प्रथा में की जाती है। लेकिन बटाविया प्रथा की सफलता अध्यापक पर निर्भर होती है। कुशल अध्यापक ही इस प्रथा को सफल बना सकता है।

डाल्टन-पद्धति—

'डाल्टन पद्धति भी सामूहिक रूप से शिक्षा के दोषों को दूर करने में सहायक होती है। इस पद्धति में व्यक्तिगत ध्यान देने की पूरी संभावना होती है। बालक को स्वाध्याय का अवसर मिलता है और उस पर समय का कोई बंधन नहीं होता। बालक को एक निश्चित कार्य करने को दे दिया जाता है और वह अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करता है। बालक के स्वाध्याय के लिए प्रयोगशाला के रूप में कक्षा होती है। उदाहरण के लिए यदि बालक भूगोल का अध्ययन करना चाहता है तो उसे भूगोल

सम्बन्धी सभी पुस्तकें उपलब्ध होती हैं और वह शिक्षक से आवश्यक निर्देश लेकर स्वाध्याय करता है। इस प्रकार विद्यार्थी अपनी गति के अनुसार कार्य करता है और वह दूसरे विद्यार्थियों की गति से प्रभावित नहीं होता। डाल्टन-पद्धति की और भी कई विशेषताएँ हैं और जिनका वर्णन शिक्षा-सिद्धान्त से सम्बन्ध रखता है। अतः यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

दोष दूर करने के उपाय—

वर्गीकरण के दोषों को दूर करने के और भी उपाय हैं। पर अपने यहाँ की परिस्थितियों को देखते हुए नवीन पद्धतियों का प्रयोग कठिन है क्योंकि नवीन पद्धतियों में अधिक शिक्षण सामग्री की आवश्यकता होती है। अतः परिस्थितियों को देखते हुए यदि अध्यापक निम्नलिखित बातों पर ध्यान दे तो वह वर्गीकरण के दोषों को दूर करने में सफल होगाः—

(१) अध्यापक को चाहिए कि वह कक्षा के विद्यार्थियों से सम्पर्क स्थापित करे और उनकी रुझान को मालूम करे। जब विद्यार्थी की रुझान से अध्यापक परिचित हो जाता है तो वह व्यक्तिगत ध्यान दे पाता है। यह सही है कि सम्पर्क स्थापित करने में समय लगता है लेकिन इसके लिए एक मास का समय पर्याप्त है और इस समय के भीतर अध्यापक को चाहिए कि वह कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी की रुचि और रुझान को जान ले।

(२) विद्यार्थी की रुचि जिस विषय की ओर अधिक हो, उसे उस विषय के विशेष अध्ययन का अवसर देना चाहिए और अध्यापक को चाहिए कि वह रुचि के अनुसार विषयों के अध्ययन का अवसर और सहायता विद्यार्थियों को प्रदान करे।

(३) कक्षा में मंद बुद्धि के बालकों की ओर विशेष ध्यान दिया जाय। अध्यापक को चाहिए कि वह मंद बुद्धि के बालकों

लिए ऐसा गृह-कार्य दे जो कि उन्हें सहायता प्रदान कर सके।

(४) कक्षा के विद्यार्थियों की प्रगति से अध्यापक को परिचित होना चाहिए। जो बालक कमज़ोर हो, उसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए और उसके अभिभावक को भी सूचित करना चाहिए।

(५) कक्षा में भर्ती के समय सावधानी रखनी चाहिए कि कोई निर्बल छात्र न आ जाय। बहुधा यह होता है कि माता-पिता बालक को ऊँची कक्षा में भर्ती करा देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बालक कक्षा में दुर्बल रहता है और ठीक से शिक्षा नहीं ग्रहण कर पाता। इसलिए भर्ती के समय सावधान रहना चाहिए। यदि अध्यापक नये बालकों को भर्ती के समय निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान दे तो वे कक्षा के साथ अध्ययन करने में मन लगाते हैं।

नवीन छात्रों की भर्ती—

(क) नवीन बालकों की ओर अध्यापक विशेष ध्यान दे और उन्हें शिक्षालय में आने के लिए उत्साहित करे। उसे यह भी देखना चाहिए कि कक्षा के पुराने विद्यार्थी नवीन विद्यार्थी के साथ अच्छा व्यवहार कर रहे हैं अथवा नहीं।

(ख) अनुशासन सम्बन्धी नियमों से नवीन विद्यार्थी का परिचय एकाएक नहीं कराना चाहिए वरन् समयानुसार धीरे धीरे अनुशासन की बातें बतानी चाहिए।

(ग) नवीन विद्यार्थी से यदि कोई अनुचित कार्य हो जाय तो उसे तुरन्त दंड न दिया। बल्कि उसका अनुशासन की ओर ध्यान आकर्षित कर देना चाहिए और भविष्य के लिए सावधान कर देना चाहिए।

(घ) नवीन विद्यार्थियों से कक्षा में प्रश्नादि भी अधिक नहीं

पूछना चाहिए कि वे घबरा जाँय। अध्यापक को चाहिए कि वह पहले पुराने छात्रों से प्रश्न को और फिर बाद में नवीन छात्र से पूछे।

(ङ) नवीन छात्रों को शिक्षालय के वातावरण अनुशासन आदि से परिचित होने में समय लगता है। अतः अध्यापक को चाहिए कि वह नवीन बालकों से सम्पर्क स्थापित करके उन्हें शिक्षालय की सभी बातों से परिचय करा दे और उनकी वास्तविक योग्यता को जान ले।

(६) व्यक्तिगत और सामूहिक शिक्षा में सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि से अध्यापक को चाहिए कि वह अपनी पाठ्यशैली को रोचक बनावे।

(७) कक्षा में विद्यार्थियों के बैठने का स्थान समुचित होना चाहिए। यदि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए पंद्रह वर्गफीट स्थान और पचास घनफीट वायु होती है तो ठीक होता है।

ऊपर की ये सात बातें ऐसी हैं जिनकी ओर सरलता पूर्वक ध्यान दिया जा सकता है।

वर्गीकरण का नवीन रूप—

शिक्षालय में विभिन्न वर्गों का जो पुराना रूप था, उसे युक्त प्रांत के शिक्षा विभाग ने इस दृष्टि से परिवर्तित किया कि शिक्षा को अधिक उपयोगी बनाया जा सके। अतः वर्गीकरण का नया रूप इस प्रकार निश्चित किया गयाः—

(१) **नर्सरी एजूकेशन अथवा शिशु-शिक्षा**—काल ३-६ वर्ष के बच्चों के लिए।

(२) **प्राइमरी बेसिक एजूकेशन** अथवा बाल्य-शिक्षा-काल ६-११ वर्ष के बालकों के लिए।

इसमें एक से पाँच तक कक्षाएँ निश्चित की गई हैं और अ, ब कक्षाएँ बंद कर दी गई हैं।

(३) **सीनियर बेसिक स्टेज**—११ से १४ वर्ष के विद्यार्थियों के लिए। इसमें ६ से ८ तक कक्षाएँ हैं और इन कक्षाओं के स्कूल को जूनियर हाई स्कूल कहते हैं।

हायर सेकन्डरी स्टेज—

१४ से १८ तक की आयु वाले विद्यार्थियों के लिए है। इसमें ९ से १२ तक कक्षाएँ होंगी। इस स्टेज के शिक्षालय का नाम हायर सेकन्डरी स्कूल है और इसका अध्यक्ष प्रिंसपल कहलाता है। बेसिक स्कूल और जूनीयर हाई स्कूल हेडमास्टर अथवा प्रधानाध्यापक की देख रेख में कार्य करते हैं।

छात्रों की रुझान—

आरम्भ में जब विद्यार्थी आते हैं तो उनकी रुझान का ज्ञान शीघ्र ही नहीं हो जाता। वर्गीकरण का नवीन रूप निश्चित करते समय इस बात की ओर ध्यान दिया गया और तय पाया गया कि छात्रों की रुझान के विषय में उस समय भलीभाँति ज्ञात हो सकता है जब कि वे सीनियर बेसिक स्टेज अथवा जूनियर हाई स्कूल में होते हैं। जैसा कि हमें ज्ञात है कि जूनियर हाई स्कूल में छठी, सातवीं और आठवीं कक्षाएँ होती हैं। इन कक्षाओं के विद्यार्थियों की आयु ११ से १४ वर्ष तक की होती है। यह अवस्था ऐसी है जिसमें कि प्रत्येक बालक की रुझान प्रगट होती है। अतः इन कक्षाओं के अध्यापकों को ध्यानपूर्वक विद्यार्थियों का अध्ययन करना पड़ता है और उनकी रुझान का पता लगाकर हायर सेकन्डरी स्कूल के चार रूपों में से किसी एक के लिए चुनना पड़ेगा। रुझान के अनुसार हायर सेकंडरी के चार रूप निश्चित किए गये हैं। वे इस प्रकार हैं:—

१ साहित्यिक २ कलात्मक ३ रचनात्मक ४ वैज्ञानिक। जिस विद्यार्थी की रुचि साहित्य में अधिक है वह साहित्यिक हायर सेकंडरी में शिक्षा प्राप्त करेगा। जिसकी रुचि कला में अधिक है वह कलात्मक हायर सेकंडरी में अध्ययन करेगा। जो विद्यार्थी रचनात्मक कार्य में रुचि रखता है उसके लिए रचनात्मक हायर सेकंडरी स्कूल है और जो विज्ञान का अध्ययन करना चाहता है वह वैज्ञानिक शाखा की ओर जाता है। इस प्रकार हायर सेकंडरी विद्यालय में शिक्षा की चार शाखा बालकों की रुझान के अनुसार निश्चित की गई है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हायर सेकंडरी की ये चार शाखायें एक ही स्कूल में खोली जा सकती हैं, यदि सामग्री और स्थान की व्यवस्था हो सके।

जब विद्यार्थी हायर सेकंडरी स्कूल की शिक्षा समाप्त कर लेगा तो वह अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करेगा अथवा किसी उद्योग धंधे में लग जायगा।

नवीन रूप की विशेषता—

हायर सेकंडरी का जो नवीन रूप है उसकी विशेषता यह है कि इसमें पुस्तकीय ज्ञान के स्थान पर व्यावहारिक ज्ञान को अधिक महत्त्व दिया गया है। श्री अवनिकुमार सान्याल का, जो कि संयुक्त प्रांत में माध्यमिक शिक्षा का पुनर्संगठन कर रहे हैं, इन नई योजना की विशेषता के सम्बन्ध में यह विचार है कि "अब तक हमारी शिक्षा-प्रणाली का बड़ा दोष यह रहा है कि वह पुस्तकीय ज्ञान पर अधिक जोर देती है और व्यावहारिक ज्ञान पर कम। विद्यार्थियों में कार्यकुशलता नहीं आती बल्कि हाथ से काम करना वे अपमानजनक समझने लगते हैं। यदि हम बेसिक पाठ्यक्रम पर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि यह दोष बिल्कुल ही

दूर हो जाता है। प्रत्येक कक्षा में हाथ से काम करना अनिवार्य है। किसी न किसी कला के द्वारा ही दूसरे विषयों की शिक्षा पर जोर दिया जाता है। अब शिक्षा का केन्द्र पुस्तक नहीं बालक होगा। वह क्या पढ़ना चाहता है, कैसे पढ़ना चाहता है, कैसे करना चाहता है, इत्यादि इत्यादि प्रश्नों का महत्त्व अब बहुत रखा गया है। विद्यार्थी को अपनी इच्छा के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा देने के विचार से ही ऐच्छिक विषयों की संख्या इतनी रखी गई है।"

(शिक्षा : जुलाई १९४८)

समय-विभाग चक्र

आवश्यकता—

शिक्षालय में विभिन्न कक्षाओं में शिक्षण-कार्य की सुविधा के लिए समय-विभाग चक्र (Time-Table) की आवश्यकता होती है। यदि शिक्षालय में समय-विभाग चक्र न हो तो कार्य ठीक ठीक नहीं हो पाता। समय-विभाग चक्र होने से अध्यापकों को यह ज्ञात होता है कि उन्हें आज किस कक्षा में क्या पढ़ाना है और विद्यार्थियों को भी मालूम होता है कि उन्हें आज क्या पढ़ना है। इस प्रकार एक सप्ताह में जितना समय मिलता है उसका उपयोग समय-विभाग चक्र की सहायता से हो जाता है। शिक्षालय-प्रबन्ध की दृष्टि से भी समय-विभाग चक्र की आवश्यकता होती है क्योंकि इससे प्रधानाध्यापक को यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक अध्यापक इस समय किस कक्षा में क्या पढ़ा रहा है। इस प्रकार शिक्षालय में प्रबन्ध और शिक्षण की दृष्टि से समय-विभाग चक्र की आवश्यकता होती है।

उपयोगिता—

समय-विभाग चक्र की उपयोगिता है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में मतभेद है। नवीन शिक्षा पद्धतियों में बालक के स्वाध्याय की प्रधानता है। अत: अध्ययन के समय का विभाग बालक के ऊपर निर्भर होता है। इसलिए समय-विभाग चक्र की कोई उपयोगिता नहीं दिखाई पड़ती। लेकिन यह तभी होता है जब कि शिक्षा में व्यक्तिगत ध्यान अधिक दिया जाता है। पर वर्तमान परिस्थिति में सामूहिक शिक्षा हो रही है और इसके लिए कुछ ऐसे नियम बनाये गये हैं कि सामूहिक शिक्षा अधिक से

अधिक लाभप्रद हो सके। इन नियमों का प्रयोग समय-विभाग चक्र बनाने में भी किया जाता है जिससे कि शिक्षा भलीभाँति हो सके। यदि समय-विभाग चक्र को निश्चित करते समय नीचे लिखी बातों का ध्यान रखा जाय तो वह अधिक उपयोगी होता है:—

नियम—

(१) समय-विभाग चक्र में पाठ्यक्रम के विषयों की कठिनाई अथवा सरलता का ध्यान रख कर समय निश्चित किया जाय। उदाहरण के लिए पाठ्यक्रम में कुछ ऐसे विषय होते हैं जिनके अध्ययन में अधिक समय की आवश्यकता होती है। इसलिए ऐसे विषय को प्रतिदिन एक घंटा दिया जा सकता है। साथ ही ऐसे भी विषय पाठ्यक्रम में होते हैं, जिनके लिए अधिक समय की आवश्यकता नहीं होती। उनके लिए सप्ताह में दो घंटे पर्याप्त होते हैं। अतः समय-विभाग चक्र बनाते समय इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

(२) समय-विभाग चक्र ऐसा हो कि उसमें पाठ्यक्रम के सभी विषयों का समावेश हो जाय। कभी कभी कुछ अध्यापक ऐसा करते हैं कि वे कुछ विषयों की शिक्षा स्थगित कर देते हैं। कुछ दिनों तक वे एक विषय पढ़ाते हैं तो कुछ दिनों तक दूसरा। इस प्रकार की व्यवस्था कोर्स पूरा करने की दृष्टि से अच्छी हो सकती है। पर शिक्षा-सिद्धांत की दृष्टि से यह ठीक नहीं है। अतः समय-विभाग चक्र में सभी विषयों के लिए आवश्यक स्थान होना चाहिए जिससे कि विद्यार्थियों की शिक्षा भली भाँति हो सके।

(३) समय-विभाग चक्र में विषयों का क्रम इस प्रकार रखा जाय कि विद्यार्थियों को थकान का अनुभव न हो। यदि

समय-विभाग चक्र में विषयों का क्रम रुचि को ध्यान में रखकर निश्चित किया जाता है तो थकान नहीं होती। विषय-परिवर्तन से रुचि के बने रहने में सहायता मिलती है। विषय की कठिनता की ओर ध्यान देने से विद्यार्थियों को थकान से बचाया जा सकता है।

(४) अध्यापकवर्ग की योग्यता को ध्यान में रखकर जो समय-विभाग चक्र बनाया जाता है वह सफल होता है। शिक्षालय में जितने अध्यापक होते हैं उनकी योग्यताएँ भिन्न प्रकार की होती हैं। कोई किसी विषय का विशेषज्ञ होता है तो कोई किसी और का। इस प्रकार कक्षा की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए समय-विभाग चक्र बनाना होता है जिससे कि शिक्षण कार्य भली भाँति हो सके।

(५) समय-विभाग चक्र बनाते समय शिक्षालय में उपलब्ध स्थान का भी ध्यान रखना होता है। उदाहरण के लिए कला की शिक्षा एक ही समय दो कक्षाओं के लिए नहीं हो सकती क्योंकि कला का कमरा और अध्यापक एक होता है। इसी प्रकार विज्ञान का भी विषय है। इसलिए समय-विभाग चक्र बनाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि शिक्षालय में उपलब्ध स्थान का उपयोग भलीभाँति हो सके।

समय और थकान—

समय-विभाग चक्र बनाते समय साधारणतः जिन बातों को ध्यान में रखना चाहिए उसका उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। लेकिन इस सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनकी ओर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। समय-विभाग चक्र में समय और थकान की ओर ध्यान देना होता है। समय का विभाजन किस प्रकार किया जाय कि कम से कम थकान हो।

अनुभव के आधार पर ज्ञात हुआ है कि प्रायः सबेरे के समय किसी प्रकार की थकान नहीं होती। उस समय रात भर के आराम के बाद विद्यार्थी स्कूल में आता है। अतः सबेरे के समय उसे किसी प्रकार की थकान नहीं होती। लेकिन ज्यों ज्यों दिन चढ़ता है और दोपहर आती है, उस समय थकान होने लगती है। शिक्षकों का यह अनुभव है कि मध्य प्रातःकाल, मध्य दोपहर से अच्छा है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि मध्य दोपहर का समय प्रातःकाल के अंत के समय से अच्छा होता है। इसी प्रकार प्रातःकाल के अंत का समय मध्याह्न के अंत के समय से अच्छा होता है। समय और थकान के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि साधारण धारणा यह है कि प्रातःकाल कार्य की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। पर यह सत्य नहीं है। अनुभव यह है कि मध्य प्रातःकाल कार्य की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इस समय किसी प्रकार की थकान नहीं होती। इसी प्रकार शिक्षालय में जो मध्यान्तर (interval) होता है, उसके बाद ही जब शिक्षालय का कार्य शुरू होता है तो उस समय विद्यार्थियों में कार्य करने को उतनी तत्परता नहीं होती जितनी कि मध्याह्न को छुट्टी के बाद के समय के बीच में होती है। ऊपर समय और थकान की दृष्टि से जो बातें कहीं गई हैं, उन्हें यदि शिक्षालय के समय-विभाग चक्र के घंटों के अनुसार देखें तो हमें ज्ञात होगा कि दूसरे और तीसरे घंटे उस काम के लिए अधिक उपयुक्त हैं, जिसमें अधिक थकान होती है। इसी प्रकार दोपहर की छुट्टी के बाद का दूसरा घंटा भी ऐसा है जिसमें थकान नहीं होती। समय-विभाग चक्र के अन्तिम घंटे में विद्यार्थी थक जाते हैं।

थकान की दृष्टि से यदि सप्ताह के दिनों पर विचार किया तो हमें ज्ञात होगा कि रविवार की छुट्टी के बाद जब विद्यार्थी सोमवार को शिक्षालय में आते हैं तो उनपर छुट्टी का प्रभाव

बना रहता है और वे कार्य की ओर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि उन्हें देना चाहिए। मंगलवार और बुधवार के दिन समय-विभाग चक्र के दूसरे और तीसरे घंटे के समान कार्य की दृष्टि से अच्छे होते हैं। जिस प्रकार समय-विभाग चक्र का अंतिम घंटा कार्य की दृष्टि से अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार शनिवार का दिन भी थकान ला देता है। अतः समय और थकान में जो सम्बन्ध है उसको ध्यान में रखकर विभिन्न विषयों के घंटे और दिन निश्चित करना चाहिए।

थकान से बचने के उपाय—

समय-विभाग चक्र को इस प्रकार बनाया जाय कि विद्यार्थी थकान से बचें। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि लगभग दिन के साढ़े ग्यारह बजे करीब पंद्रह मिनट का एक अवकाश हो। अवकाश के इस समय में सभी विद्यार्थियों को व्यायाम कराया जाय। मानसिक कार्य के बाद शारीरिक कार्य एक अच्छा परिवर्तन उपस्थित करता है। कक्षा में लगभग दो घंटे तक बैठे रहने के बाद विद्यार्थियों को शारीरिक कार्य का अवसर मिलता है जिससे उनकी थकान दूर हो जाती है। इसके पश्चात् दोपहर के बाद लगभग साढ़े बारह बजे आध घंटे का अवकाश होना चाहिए। इस आधे घंटे में विद्यार्थियों को जलपान करने और तनिक आराम करने का अवसर मिल जाता है।

विद्यार्थियों को थकान से बचाने के लिए पाठ्यक्रम के विषयों का क्रम समय-विभाग चक्र में सोच-विचार कर रखना चाहिए। अनुभव के आधार पर यह ज्ञात किया जा सकता है कि थकान की दृष्टि से विषयों का क्रम इस प्रकार होता है:—गणित, भाषा, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, लेखन और कला-कौशल। अतः जिस विषय में थकान अधिक होती है, उसके

लिए समय-विभाग चक्र का वह घंटा होना चाहिए जिसमें विद्यार्थी कार्य करने के लिए सबसे अधिक तत्पर होते हैं। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, दूसरा और तीसरा घंटा कार्य की दृष्टि से सबसे अधिक उपयुक्त है। अतः ये घंटे गणित और भाषा के लिए होने चाहिएँ क्योंकि इन विषयों में विद्यार्थी सबसे अधिक थक जाते हैं। समय-विभाग चक्र का पहला घंटा सामाजिक विषय के लिए हो सकता है। इसी प्रकार दोपहर के अवकाश के बाद का दूसरा घंटा विज्ञान के लिए अधिक उपयुक्त होता है। आखिरी घंटों मे कला-कौशल को रखा जा सकता है। अतः समय-विभाग चक्र की रचना इस प्रकार की जाय कि विद्यार्थियों को थकान न हो।

रुचि के लिए भिन्नता—

समय-विभाग चक्र बनाते समय भिन्नता (Variety) को स्थान देना चाहिए। इससे रुचि बनी रहती है। भिन्नता विषय और अध्यापक की दृष्टि से अपेक्षित है। यदि एक ही अध्यापक कक्षा में दो तीन घंटे लगातार पढ़ाता है तो विद्यार्थियों का मन ऊब जाता है। लेकिन जब एक अध्यापक के बाद दूसरा अध्यापक आता है तो अवश्य ही उनका मन पाठ की ओर लगता है। यह स्वाभाविक भी है। इसलिए समय-विभाग में अध्यापकों का भी परिवर्तन अपेक्षित है। लेकिन यह तो संभव नहीं है कि प्रत्येक घंटे में नया अध्यापक आवे। इसलिए जहाँ तक हो सके अध्यापक की दृष्टि से भिन्नता लाई जाय। दूसरे थकान की दृष्टि से भी आवश्यक है कि एक ही अध्यापक को लगातार पढ़ाने के लिए न कहा जाय। यदि एक अध्यापक दो तीन घंटे लगातार पढ़ाता है, तो वह थक जाता है और उसका कार्य भलीभाँति नहीं हो पाता। इसलिए यह आवश्यक

है कि एक अध्यापक को इस प्रकार का कार्य न दिया जाय। उसे अवकाश अथवा आराम देने की दृष्टि से पढ़ाने के बाद लिखित कार्य में लगाया जा सकता है। जब विद्यार्थी लिखित अथवा प्रयोगिक कार्य करते हैं तो उस समय अध्यापक केवल निरीक्षण कार्य करता है और इसमें उसे मेहनत नहीं करनी पड़ती।

समय-विभाग चक्र में भिन्नता लाने के लिए कठिन और सरल विषय की ओर भी ध्यान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त जिन विषयों में प्रयोगिक कार्य अधिक होता है, उसके लिए एक साथ दो घंटों की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कि प्रयोग पूरा हो सके। तात्पर्य यह है कि रुचि को बनाए रखने के लिए जहाँ तक संभव हो सके समय-विभाग चक्र में भिन्नता लानी चाहिए।

समय-विभाग चक्र के घंटे—

समय-विभाग चक्र में कितने घंटे हों और प्रत्येक घंटा कितने मिनट का हो यह प्रश्न विचारणीय है। इस सम्बन्ध में बालकों की आयु और योग्यता की ओर ध्यान देना चाहिए। छोटे बालक एक ही कार्य में देर तक नहीं लगे रह सकते। इसलिए बेसिक स्कूल में लगभग तीस या पैंतीस मिनट का एक घंटा होना चाहिए। आचार्य नरेन्द्रदेव-शिक्षा-संगठन कमेटी ने यह सुझाव दिया है कि कक्षा एक और दो के लिए चालीस मिनट के सात घंटे प्रति दिन हों। प्रत्येक घंटे के बाद पाँच मिनट का अवकाश सिवाय पाँचवें घंटे के बाद हो। पाँचवें घंटे के बाद पन्द्रह मिनट का लम्बा अवकाश दिया जाय। तीसरी से लेकर सातवीं कक्षा के समय-विभाग चक्र के सम्बन्ध में यह सुझाव है कि पाँच घंटे तो पैंतालीस पैंतालीस मिनट और बाकी दो घंटे चालीस चालीस मिनट के होने चाहिएँ। दूसरे और छठे घंटे के बाद पाँच मिनट का और चौथे घंटे के बाद पचीस मिनट का अवकाश दिया जाय।

नरेन्द्रदेव कमेटी के सुझाव—

पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों को सप्ताह में कितने घंटे दिए जाँय, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव नरेन्द्रदेव कमेटी ने दिए हैं—

कक्षा एक और दो—	सप्ताह में
बुनियादी दस्तकारी	१० घंटे
हिन्दी	१२ ,,
गणित	६ ,,
सामाजिक विषय	५ ,,
सामान्य विज्ञान	३ ,,
कला	३ ,,
फिज़ीकल कल्चर	३ ,,
	४२ ,,

कक्षा तीन और चार—	सप्ताह में
बुनियादी दस्तकारी	१२ घंटे
हिन्दी	११ ,,
गणित	६ ,,
सामाजिक विषय	५ ,,
सामान्य विज्ञान	४ ,,
कला	२ ,,
फिज़ीकल कल्चर	२ ,,
	४२ ,,

कक्षा ५, ६, और ७ के लिए सप्ताह में बुनियादी दस्तकारी १५ घंटे, हिन्दी ६ घंटे, दूसरी भाषा २ घंटे, गणित ६ घंटे, सामाजिक विषय ५ घंटे, सामान्य विज्ञान ४ घंटे, कला २ घंटे और फिज़ीकल कल्चर के २ घंटे कार्य में दिए जायेंगे।

बालिकाओं के शिक्षालयों में कला और व्यायाम की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। अतः कमेटी ने बालिकाओं की कक्षा पाँच, छः और सात में गृहकार्य (Domestic Crafts) के लिए बारह घंटे, कला के लिए चार घंटे और फिजीकल कल्चर के तीन घंटे नियत किए हैं।

एजूकेशनल कोड का आदेश—

संयुक्त प्रांत के एजूकेशनल कोड में भी समय-विभाग चक्र के सम्बन्ध में कुछ आदेश दिए गये हैं। कोड के अनुसार कक्षा चार से ऊपर की कक्षाओं का शिक्षण कार्य जाड़े में पाँच घंटे और गर्मी के दिनों मे जब कि सबेरे का स्कूल हो चार घटे तक होगा। सबेरे का स्कूल साधारतः अप्रैल, मई और जुलाई के महीनों में हो। प्राइमरी स्कूलों के लिए अर्थात् कक्षा एक से चार तक का शिक्षण कार्य पूरे वर्ष चार घंटे तक हो।

अध्यापकों को अवकाश—

समय-विभाग चक्र इस प्रकार बनाना चाहिए कि अध्यापकों को अवकाश मिले। सप्ताह में ६ घंटे का अवकाश पर्याप्त होता है। लेकिन यदि इस अवकाश को सप्ताह के एक या दो दिनों में दिया जाता है और बाकी दिन अध्यापक को लगातार कार्य करना होता है तो कोई लाभ नहीं होता। इसलिए ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि अध्यापक को प्रति दिन एक घंटे (Period) का अवकाश मिल जाय। अध्यापक को जो यह अवकाश दिया जाता है, इसमें वह थोड़ा आराम कर लेता है और संशोधन कार्य करता है। भाषा, गणित तथा अन्य प्रयोगिक कार्य जो विद्यार्थियों द्वारा होता है, उनका संशोधन होना आवश्यक है। इसलिए अध्यापक अवकाश का समय संशोधन में दे सकता है। लेकिन जिस अध्यापक को संशोधन कार्य अधिक करना हो, उसे अवकाश

अधिक मिलना चाहिए जिससे कि वह संशोधन कार्य भली भाँति कर सके।

समय-विभाग चक्र के दो रूप—

समय-विभाग चक्र के दो रूप होने चाहिए। एक तो ऐसा हो जिसके द्वारा विभिन्न कक्षाओं के शिक्षण कार्य के समय का ज्ञान हो, और दूसरा अध्यापकों के अनुसार हो। इस प्रकार एक समय-विभाग चक्र कक्षा के अनुसार होगा और दूसरा अध्यापक के अनुसार। जो समय-विभाग चक्र अध्यापकों के अनुसार बनाया जाय उसकी दो प्रतियाँ होनी चाहिएँ। एक प्रति तो प्रधानाध्यापक के कमरे में होनी चाहिए जिससे कि प्रधानाध्यापक को यह ज्ञात हो सके कि कोई अध्यापक किस समय क्या कर रहा है, और दूसरी प्रति उस कमरे में होनी चाहिए जहाँ कि अध्यापकगण अवकाश के समय बैठते हैं। इस सम्बन्ध में यह सुझाव है कि प्रत्येक अध्यापक को अपना समय-विभाग चक्र उसी प्रकार बना लेना चाहिए जैसा कि प्रत्येक कक्षा के लिए बनाया जाता है। इस प्रकार अध्यापक को अपने समय-विभाग चक्र से ज्ञात हो सकेगा कि उसे किस घंटे में कहाँ, क्या पढ़ाना है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कक्षा में भी कक्षा का समय-विभाग चक्र होना चाहिए। यह समय-विभाग ऐसे स्थान में लगा होना चाहिए कि भली भाँति दिखाई पड़े। इस प्रकार समय-विभाग चक्र से पूर्ण लाभ होता है।

समय-विभाग चक्र की अन्य बातें—

समय-विभाग चक्र की सभी आवश्यक बातों को जान लेने के बाद, कुछ अन्य बातों की ओर भी ध्यान देना है। पहली बात तो यह है कि कुछ स्कूलों में अध्यापकों की संख्या कम होती है और यह असंभव होता है कि प्रत्येक कक्षा में एक समय एक

अध्यापक उपस्थित हो। ऐसी दशा में कुछ घंटे अध्यापक पढ़ाता है, तो कुछ घंटे मानीटर कार्य करता है। ऐसा करने से काम चल सकता है। अतः समय-विभाग चक्र में इस बात की ओर भी ध्यान देना चाहिए। दूसरी बात शारीरिक व्यायाम की है। इसके लिए भी ससय निर्धारित करना चाहिए। स्काउटिंग भी विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है। अतः समय-विभाग चक्र में स्काउटिंग का भी समावेश होना चाहिए। शनिवार के दिन आधे दिन की पढ़ाई हो और बाकी समय अतिरिक्त पाठ्यक्रम कार्य के लिए दिया जाय। विद्यार्थियों को सैर-सपाटे के लिए भी समय देना चाहिए क्योंकि शिक्षा केवल शिक्षालय के कमरे में ही नहीं होनी चाहिए। विद्यार्थियों को निरीक्षण करने के अवसर देना भी आवश्यक है। अतः इन सब बातों की ओर ध्यान देना समय-विभाग चक्र की दृष्टि से अपेक्षित है।

शिक्षालय में परीक्षा

आवश्यकता—

शिक्षालय संगठन की दृष्टि से कार्य की प्रगति देखने के लिए परीक्षा आवश्यक है। परीक्षा होने से प्रधानाध्यापक और अध्यापक वर्ग को विद्यार्थियों की प्रगति का ज्ञान होता रहता है और वे निश्चय कर पाते हैं कि उन्हें किन विषयों की ओर अधिक ध्यान देना है। लेकिन इसके लिए यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान परीक्षा पद्धति से इस आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। यह तो सत्य है कि विद्यार्थी की प्रगति का ज्ञान होना चहिए। पर इसको मालूम करने के लिए जो तरीका काम में लाया जाता है, वही अच्छा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यहाँ परीक्षा के दोष और गुण की अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। हमें पाठशाला प्रबन्ध की दृष्टि से शिक्षालय में परीक्षा पर विचार करना है। इसके लिए हम नरेन्द्रदेव कमेटी की जाँच की ओर ध्यान देंगे जिससे कि शिक्षालय में परीक्षा के सम्बन्ध में पूरी जानकारी हो सके।

वर्तमान परीक्षाएँ—

संयुक्त प्रांत के शिक्षा-संगठन में परीक्षाओं की भरमार है। इस ओर ध्यान आकर्षित करते हुए नरेन्द्रदेव कमेटी ने लिखा है कि शिक्षक का दृष्टिकोण विद्यार्थी को केवल परीक्षा में उत्तीण कराना है। परीक्षा की भरमार का उदाहरण देते हुए कमेटी ने कहा है कि चौदह वर्ष से लेकर बाईस वर्ष की अवस्था के भीतर हर दो वर्ष के बाद एक परीक्षा का विधान है। कमेटी ने जो बातें कही हैं वह पूर्ण सत्य हैं। इसके अतिरिक्त कमेटी ने परीक्षाओं की

अधिकता दर्शाने के लिए यह लिखा है कि सरकारी परीक्षाओं के अतिरिक्त प्रत्येक शिक्षालय की अपनी परीक्षाएँ होती हैं जिनमें विद्यार्थियों को उत्तीर्ण होना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य पूरा नहीं होता। शिक्षा का जो उद्देश्य है, उसकी जो वांछित प्रणाली है, इन सभी वस्तुओं की अवहेलना होती है। परीक्षा के कारण विद्यार्थियों के सिर पर भूत सवार रहता है और वे रटने के लिए बाध्य होते हैं। जिन बातों को उन्हें समझना चाहिए, उन्हें वे रटते हैं। इस प्रकार विद्यार्थियों में विचार-शक्ति का अभाव होता है और वे जीवन में अच्छे कार्य नहीं कर पाते क्योंकि जिस व्यक्ति की विचार-शक्ति और निर्णय-शक्ति नष्ट हो गई है, वह जीवन की समस्याएँ किस प्रकार हल कर सकता है।

विद्यार्थी और परीक्षा—

विद्यार्थियों पर परीक्षा का जो प्रभाव पड़ता है यदि हम उस पर भली भाँति विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि वर्तमान परीक्षा पद्धति के कारण विद्यार्थियों के विकास में बाधा उपस्थित होती है। विचार-शक्ति को जो क्षति पहुँचती है, उसे तो हम जानते ही हैं। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का विकास हो ही नहीं पाता। शिक्षालय में जो समय उन्हें अध्ययन के लिए मिलता है, उसमें वे उचित शिक्षण-प्रणाली के अभाव में कोई कार्य नहीं करते। जब वार्षिक परीक्षा निकट आती है तो वे रात-दिन पढ़ते हैं। रात-दिन एक करके वे वर्ष भर का पाठ्यक्रम समाप्त करना चाहते हैं। इससे उन्हें अथक परिश्रम करना पड़ता है। घोर परिश्रम का प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ता है और वे बीमार तथा दुर्बल हो जाते हैं। इस प्रकार विद्यार्थियों के जीवन पर वर्तमान परीक्षा का बुरा प्रभाव पड़ता है।

परीक्षा के दोष—

वर्तमान परीक्षा प्रणाली में कई दोष हैं। सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे परीक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती। परीक्षा का उद्देश्य है बालक की योग्यता का पता लगाना। उसका जो विकास हुआ है, उसकी जाँच करना। लेकिन ऐसा नहीं होता। इसका कारण यह है कि वर्तमान परीक्षा जिस प्रकार होती है उससे व्यक्तिगत विकास का पता नहीं लग सकता। सामूहिक रूप से जो परीक्षा होती है, उसमें व्यक्तिगत विकास को जानने की कोई संभावना नहीं होती।

वर्तमान परीक्षा में दूसरा दोष यह है कि परीक्षा की कापियों की जो जाँच होती है, वह ठीक ठीक नहीं होती। इसका कारण यह है कि प्रत्येक परीक्षक के माप भिन्न होते हैं और वह अपनी रुचि के अनुसार अंक प्रदान करता है। अतः हम देखते हैं कि परीक्षाफल में विभिन्न परीक्षकों में मतभेद होने के कारण एक माप नहीं होता।

वतमान परीक्षा में तीसरा दोष यह है कि इसमें 'संयोग' की प्रधानता होती है। यह देखा गया है कि तेज विद्यार्थी वार्षिक परीक्षा में कभी कभी कम नम्बर पाते हैं और मंद बुद्धि के विद्यार्थी अधिक। इसी प्रकार प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी को द्वितीय अथवा तृतीय श्रेणी मिल जाना 'संयोग' की प्रधानता का द्योतक है। अतः किसी परीक्षा प्रणाली में संयोग की प्रधानता स्वयं एक बहुत बड़ा दोष है क्योंकि इससे विद्यार्थियों की योग्यता का पता नहीं लगता।

हरटॉग की आलोचना—

वर्तमान परीक्षा प्रणाली की कड़ी आलोचना सर फिलिप हरटॉग ने सन् १९३८ में प्रकाशित 'दी ईयरबुक ऑफ एजूकेशन'

में परीक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए किया है। आप लिखते हैं "इंगलैंड तथा अन्य देशों की वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके द्वारा यह नहीं ज्ञात होता कि किसी परीक्षा का उद्देश्य क्या है और किस उद्देश्य से कोई परीक्षापत्र तथा अन्य बातें निश्चित की गई हैं।" सर हरटॉग ने जो बात लिखी है वह विचारणीय है। वास्तव मे जो परीक्षायें होती हैं उनका उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता। वे केवल विद्यार्थी की रटने की शक्ति का पता पा सकती हैं। सर फिलिप हरटॉग ने आगे चलकर लिखा है कि परीक्षाओं के परीक्षकों का यह महान् उत्तरदायित्व है कि वे समाज को विश्वास दिलायें कि जो विद्यार्थी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते हैं वे उस कार्य के योग्य होते हैं जिनकी योग्यता का प्रमाणपत्र दिया जाता है। यदि हम इस दृष्टि से अपने यहाँ प्रचलित परीक्षाओं को देखें तो यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार प्रमाणपत्र मिलता है उससे समाज को किसी प्रकार का विश्वास नहीं होता। समाज उसे केवल कागज़ी योग्यता मानता है। अतः परीक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे कि विद्यार्थी की योग्यता का ज्ञान हो और उसके विकास में सहायता प्रदान हो।

नवीन-परीक्षा—

परीक्षा के जो दोष ऊपर दिखाये गए हैं, उनसे नवीन परीक्षा को मुक्त रखना है। साथ ही नवीन परीक्षा ऐसी होनी चाहिए जो सार्वजनिक शिक्षा में बाधा उत्पन्न न करे। बेसिक शिक्षा का जो रूप है और उसका प्रसार जिस सीमा तक होना चाहिए उसे देखते हुए नवीन परीक्षा का आधार सर्वमान्य और सुलभ बनाना होगा। अतः इन सब दृष्टियों से नवीन परीक्षा का रूप निर्धारित करना होगा। इसके लिए बुद्धिमापक परीक्षा की उपयोगिता है।

यदि बुद्धिमापक परीक्षायें भलीभाँति नियमानुसार हों तो उनसे प्रत्येक विद्यार्थी के विकास का ज्ञान हो सकता है और साथ ही यह भी मालूम हो सकता है कि कौन विद्यार्थी मंद बुद्धि का है और उसके लिए क्या करना है।

बुद्धिमापक परीक्षा से दूसरा लाभ यह है कि इसके द्वारा 'संयोग' की प्रधानता नष्ट होती है। इसमें प्रत्येक बालक को समान अवसर मिलता है और वह अपनी योग्यता को प्रगट कर पाता है। बहुधा यह होता है कि अमीर और गरीब विद्यार्थियों की शिक्षा पर उनके घर के वातावरण का प्रभाव होता है। इस प्रभाव से विद्यार्थियों को मुक्त करने का साधन भी बुद्धिमापक परीक्षा है क्योंकि इसमें बालक को अपनी बुद्धि का व्यवहार करना होता है और बुद्धि का प्रयोग भलीभाँति तभी संभव होता है जब कि विद्यार्थी सभी प्रभावों से मुक्त हो। यदि किसी के विचार प्रभावित हैं तो वह निष्पक्ष होकर बुद्धि के अनुसार निर्णय नहीं कर सकता। इन सब दृष्टियों से बुद्धिमापक परीक्षा से संयोग की संभावना को दूर किया जा सकता है।

बुद्धिमापक परीक्षा की तीसरी उपयोगिता यह है कि इससे प्रत्येक विद्यार्थी की रुझान का ज्ञान होता है और इसकी सहायता से उसकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जा सकता है। जैसा कि हमें ज्ञात है कि माध्यमिक शिक्षा के नवीन संगठन में रचनात्मक, कलात्मक, साहित्यिक और वैज्ञानिक शिक्षालयों का प्रबन्ध है। इस प्रकार का प्रबन्ध विद्यार्थियों की रुझान के अनुसार किया गया है।

बुद्धिमापक परीक्षा से चौथा लाभ यह है कि मानसिक आयु और वास्तविक आयु में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में यह एक बड़ा दोष है कि मानसिक

आयु और वास्तविक आयु में सामंजस्य नहीं होता। इसके कारण बालक की वास्तविक योग्यता का ज्ञान नहीं होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवीन परीक्षा की विशेषता यह है कि इसके द्वारा विद्यार्थी के विकास का ही पता नहीं चलता, वरन् उसकी रुझान का भी ज्ञान होता है। अतः उसकी शिक्षा उसके रुझान के आधार पर हो सकती है। इसलिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों की प्रगति का पूरा ब्योरा रखा जाय जिससे कि उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध हो सके। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी के सम्बन्ध में अध्यापक की राय, विद्यार्थी के घर के वातावरण, सामाजिक दशा, चरित्र आदि का भी विवरण होना चाहिए। इससे विद्यार्थी की शिक्षा और प्रगति को भलीभाँति निश्चित किया जा सकता है।

परीक्षा की श्रेष्ठता—

नवीन परीक्षा की श्रेष्ठता पर साधारण रीति से भी विचार करना चाहिए। कोई भी परीक्षा हो यदि उसमें निम्नलिखित बातें पाई जायँ तो वह श्रेष्ठ होगी:—

(१) परीक्षा में उस विद्यार्थी समुदाय की रुचि का ध्यान रखा गया हो जिसके लिए कि वह हो। जो परीक्षा विद्यार्थियों की रुचि तथा उनके सामान्य अनुभव पर आधारित होती है, वह श्रेष्ठ होती है।

(२) परीक्षा की श्रेष्ठता की दूसरी आवश्यकता यह है कि उसमें ऐसी बातें न पूछी गई हों जिनके लिए असाधारण सुविधाओं की अपेक्षा हो। उदाहरण के लिए यदि परीक्षा में ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं जिनके लिए विशेष प्रकार की तैयारी करनी होती है और उस तैयारी को कक्षा में होनेवाले शिक्षण से पूरा नहीं किया जा सकता, तो इस प्रकार की परीक्षा दोषपूर्ण होगी।

इसलिए परीक्षा की श्रेष्ठता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें किसी प्रकार की 'असाधारणता' न हो।

(३) परीक्षा की श्रेष्ठता की तीसरी आवश्यकता यह है कि उसका आधार विद्यार्थी की सामाजिक और भौगोलिक परिस्थिति हो। यदि विद्यार्थी के वातावरण से सम्बन्धित परीक्षा होती है तो वह श्रेष्ठ है।

(४) परीक्षा की श्रेष्ठता की चौथी आवश्यकता योग्य परीक्षक का होना है। बिना योग्य परीक्षक के परीक्षा का कार्य भलीभाँति नहीं हो सकता।

कक्षा की परीक्षा—

शिक्षालय के अन्तर्गत एक कक्षा से दूसरी कक्षा में भेजने के लिए वार्षिक परीक्षा होती है। लेकिन जैसा कि अनुभव है वार्षिक परीक्षा अधिक लाभदायक नहीं होती। इसलिए कक्षा मे मासिक परीक्षा अध्यापक द्वारा होनी चाहिए और प्रत्येक महीने की प्रगति को लिखना चाहिए। इस प्रकार का विवरण बेसिक शिक्षालय की कक्षा एक से पाँच तक बराबर रखा जाना चाहिए और जब बालक बेसिक शिक्षा प्राप्त कर जूनियर हाईस्कूल में जानेवाला हो तो उस समय मनो-वैज्ञानिक परीक्षक द्वारा उसकी परीक्षा होनी चाहिए जिससे कि उसकी वास्तविक प्रगति तथा रुझान का ज्ञान हो सके। कक्षा छः, सात और आठ में जब विद्यार्थी शिक्षा पाता रहता है, उस समय अध्यापक को उसकी प्रगति और रुझान का बराबर अध्ययन करना चाहिए जिससे कि हायर सेकन्डरी स्कूल में उसकी रुझान के अनुसार विषयों का चुनाव किया जा सके।

कक्षा की परीक्षा की ओर ध्यान देने का दूसरा कारण यह है कि इसका रूप केवल लिखित नहीं हो सकता। कक्षा में मौखिक

परीक्षा को भी स्थान दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त परीक्षा में प्रयोगिक कार्य भी सम्मिलित किया जा सकता है। इस प्रकार परीक्षा लिखित, मौखिक और प्रयोगिक भी होनी चाहिए। केवल लिखित परीक्षा से ही विद्यार्थी की प्रगति का ज्ञान ठीक-ठीक नहीं हो पाता। बहुधा यह देखा गया है कि केवल लिखित परीक्षा पर ही अधिक ज़ोर दिया जाता है। ऐसा नहीं होना चाहिए।

परीक्षा का समय—

परीक्षा पर साधारण रूप से विचार करने के पश्चात् परीक्षा के समय पर विचार करना चाहिए। इस सम्बन्ध में कई सुझाव हैं। कुछ विद्वान् दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक, अर्द्ध-वार्षिक और वार्षिक परीक्षा के पक्ष में हैं लेकिन ये परीक्षायें ऐसी होनी चाहिएँ जिनसे कि विद्यार्थी भय न खायें। परीक्षा भयभीत करने के लिए अथवा दंड देने के लिए नहीं होनी चाहिए। परीक्षा तो केवल शिक्षा के अंग के रूप में होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में परीक्षा से शिक्षण-कार्य में सहायता मिलनी चाहिए। यदि इन बातों को ध्यान में रखकर परीक्षा का समय निश्चित किया जायगा तो परीक्षा का उद्देश्य पूरा होगा। अतः इस दृष्टि से पहले दैनिक परीक्षा पर विचार करना चाहिए।

दैनिक परीक्षा—

प्रत्येक नये पाठ की एक प्रस्तावना होती है। प्रस्तावना में जो प्रश्न पूछे जाते हैं, उनका आधार पूर्वज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में प्रस्तावना एक प्रकार की दैनिक परीक्षा होती है। पिछले पाठ की जाँच करना प्रस्तावना का मुख्य कार्य है। यदि हम विचार-पूर्वक देखें तो हमें ज्ञात होगा कि विद्यार्थियों की यह दैनिक

परीक्षा इस रूप में होती है कि उन्हें परीक्षा का बोध नहीं होता। वे जानते हैं कि अध्यापक महोदय की यह शिक्षण-पद्धति है कि वे पिछले पाठ के सम्बन्ध में पहले पूछ लेते हैं, तब नया पाठ पढ़ाते हैं। पर साथ ही पिछले पाठ के सम्बन्ध में पूछने का उद्देश्य केवल परीक्षा नहीं है, वरन् नये पाठ की प्रस्तावना है। दूसरे शब्दों में जब तक विद्यार्थियों का पूर्वज्ञान निश्चित नहीं है, तब तक आगे की शिक्षा भलीभाँति नहीं हो पाती। इन सब दृष्टियों से शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह नवीन पाठ की प्रस्तावना के रूप में दैनिक परीक्षा को स्थान दे।

साप्ताहिक परीक्षा—

सप्ताह भर में जो कुछ पढ़ाया गया है, उसकी जाँच सोमवार के दिन करना लाभदायक होता है। इस प्रकार की साप्ताहिक परीक्षा में अधिक समय को आवश्यकता नहीं है। केवल एक घंटा काफ़ी है क्योंकि परीक्षा मौखिक होगी। जिस प्रकार दैनिक परीक्षा केवल पिछले पाठ पर आधारित होती है, उसी प्रकार साप्ताहिक परीक्षा का आधार सप्ताह भर की शिक्षा होती है। पद्धति दोनों की एक है। साप्ताहिक परीक्षा होने से विद्यार्थी रविवार के दिन घर पर पूरे सप्ताह में जो कुछ पढ़ा है उसे दुहरा लेते हैं। अतः साप्ताहिक परीक्षा की भी उपयोगिता है। लेकिन इस परीक्षा में अंक देने की आवश्यकता नहीं है। इसके द्वारा अध्यापक को केवल यह ज्ञात होता रहता है कि विद्यार्थी पढ़ रहे हैं, अथवा नहीं।

मासिक परीक्षा—

कक्षा में प्रति मास एक परीक्षा होनी चाहिए। इस मासिक परीक्षा का रूप लिखित होना चाहिए। साप्ताहिक परीक्षा में सभी विषयों की परीक्षा संभव नहीं है। एक या दो विषयों की

परीक्षा ली जा सकती है। इस प्रकार मासिक परीक्षा में सभी विषयों की परीक्षा हो सकती है। मासिक परीक्षा कक्षा के अध्यापक द्वारा होनी चाहिए और इसकी उपयोगिता बढ़ाने के लिए विद्यार्थियों से कह देना चाहिए कि इसका प्रभाव वार्षिक परीक्षाफल पर पड़ेगा। इस प्रकार वार्षिक परीक्षाफल वर्ष भर में हुई मासिक परीक्षाओं के औसत पर भी विचार करेगा। इसके अतिरिक्त त्रैमासिक और अर्द्धवार्षिक परीक्षा भी इसी प्रकार होगी। अन्तर केवल इतना होगा कि मासिक परीक्षा कक्षा के भीतर कक्षा समय-विभाग चक्र के अनुसार कक्षा के अध्यापक द्वारा होती है और त्रैमासिक तथा अर्द्धवार्षिक परीक्षा वार्षिक परीक्षा की भाँति होती है। इसमें परीक्षक नियत होते हैं, प्रधानाध्यापक द्वारा परीक्षा के दिन निश्चित किए जाते हैं और उसकी देख-रेख भी वार्षिक परीक्षा की भाँति होती है।

वार्षिक परीक्षा—

वार्षिक परीक्षा वर्ष के अंत में होती है। इसकी सूचना लगभग एक मास पहिले विद्यार्थियों को मिल जानी चाहिए, जिससे कि वे भलीभाँति तैयारी कर सकें। दूसरी बात वार्षिक परीक्षा में यह होनी चाहिए कि ऐसे अध्यापक परीक्षक नियुक्त किए जाँय, जिनका कि उस कक्षा से कक्षा अध्यापक के रूप में सम्बन्ध न हो। ऐसा करने का कारण यह है कि मासिक परीक्षायें कक्षा अध्यापक द्वारा और विषय के शिक्षकों द्वारा तो होती ही रहती हैं। अतः वार्षिक परीक्षा में भी उन्हीं व्यक्तियों को परीक्षक नियुक्त करना ठीक नहीं है।

वार्षिक परीक्षा का दूसरा आवश्यक अंग है अध्यापकों की राय। अध्यापकों की बैठक में वार्षिक परीक्षा पर विचार होना

चाहिए। विचार करने में सुविधा होती है यदि परीक्षा सम्बन्धी नियम निश्चित होते हैं। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि प्रश्न-पत्र के आधार निश्चित कर लिए जाँय। यदि प्रश्न-पत्र के आधार तय होते हैं तो वार्षिक-फल निर्णय करने में सरलता होती है। अन्यथा यह कहा जाता है कि परीक्षा-पत्र कठिन था, इसलिए विद्यार्थियों के साथ रियायत होनी चाहिए। जहाँ रियासत का प्रश्न आता है, वहाँ वास्तविक परीक्षा असंभव होती है। अतः परीक्षा-पत्र बनाते समय निम्नलिखित बातों की ओर आवश्यक ध्यान दिया जाय:—

प्रश्न-पत्र के आधार—

(१) प्रश्न-पत्र के प्रश्न ऐसे हों कि विद्यार्थियों को विचार करना पड़े। प्रश्न ऐसे न हों जिनके उत्तर रटे जा सकते हों। जिन प्रश्नों में निरीक्षण और 'अनुभव पर ध्यान दिया जाता है, उनके लिए रटने की आवश्यकता नहीं होती।

(२) प्रश्न-पत्र के प्रश्न निश्चित समय के अनुसार बनाये जाँय। यदि निश्चित समय तीन घंटा है तो प्रश्न भी इतने और ऐसे हों कि निश्चित समय में पूरे हो जाँय। यदि प्रश्न सरल है तो विद्यार्थी निश्चित समय के बहुत पहले प्रश्न कर लेते हैं। इससे कोई लाभ नहीं होता।

(३) प्रश्न-पत्र में प्रश्न ऐसी भाषा में हों कि सब की समझ में आ जायँ। यदि प्रश्नों की भाषा कठिन है अथवा वाक्य की रचना ठीक नहीं है तो विद्यार्थियों को कठिनाई होती है। इसलिए परीक्षक को चाहिए कि प्रश्न का आशय भलीभाँति स्पष्ट करें।

(४) प्रश्नों के चुनाव में मंद और तीव्र बुद्धि के विद्यार्थियों का ध्यान रखना चाहिए। कुछ प्रश्न ऐसे हों जो साधारण योग्यता के हों और कुछ ऐसे हों जिनके लिए विशेष अध्ययन की

आवश्यकता हो। पाठ्य पुस्तक में जो पाठ मुख्य हैं, उन पर प्रश्न पूछने से प्रायः सभी विद्यार्थी उत्तर दे पाते हैं। इसलिए प्रश्नों के चुनाव के समय मुख्य पाठों का भी ध्यान रखना चाहिए।

(५) प्रश्न-पत्र में प्रश्न इतने हों कि विद्यार्थी अपनी इच्छानुसार प्रश्न चुन सकें। उदाहरण के लिए यदि विद्यार्थियों को पाँच प्रश्न हल करने हैं तो प्रश्न-पत्र में कम से कम सात और अधिक से अधिक दस प्रश्न होने चाहिए। ऐसा करने से विद्यार्थियों को सुविधा होती है।

प्रश्न के उत्तर—

यह हम सबको अपने अनुभव से ज्ञात है कि परीक्षा के उत्तर लिखने की भी एक शैली होती है। जिन विद्यार्थियों को परीक्षा के उत्तर देने की शैली का ज्ञान नहीं होता, वे सब कुछ जानते हुए भी उत्तर नहीं दे पाते। परिणाम यह होता है कि वे परीक्षा में असफल हो जाते हैं। इसलिए विद्यार्थियों का ध्यान निम्नलिखित बातों की ओर आकर्षित किया जाय:—

(१) प्रश्न-पत्र मिलने पर प्रश्नों को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय ध्यानपूर्वक पढ़ने से विद्यार्थियों को प्रत्येक प्रश्न का आशय ज्ञात हो जायगा और वे जान सकेंगे कि प्रश्न क्या है।

(२) प्रश्नों के आशय को जान लेने के बाद परीक्षक के आदेश के अनुसार प्रश्नों का चुनाव करना चाहिए। यदि पाँच प्रश्न हल करने का आदेश है तो पाँच ऐसे प्रश्न चुने जाँय जिनका उत्तर सरलतापूर्वक लिखा जा सके। अतः विद्यार्थियों को चाहिए कि वे प्रश्नों का चुनाव सावधानी के साथ करें।

(३) उत्तर लिखते समय सब से पहले उस प्रश्न को लेना चाहिए, जिसका उत्तर विद्यार्थी सब से अच्छा लिख सकता है परीक्षक के सामने सब से पहले विद्यार्थी का सबसे अच्छा लिख

उत्तर होना चाहिए। परीक्षक भी इसी बात की आशा करता है और वह पहले जो उत्तर देखता है उसी के आधार पर विद्यार्थी की योग्यता के सम्बन्ध में धारणा बनाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। अतः विद्यार्थी को चाहिए कि वह पहले सर्वश्रेष्ठ उत्तर लिखने का प्रयास करे।

(४) उत्तर लिखते समय समय का ध्यान रखना चाहिए। यदि समय तीन घंटे का है और पाँच प्रश्न करने हैं तो एक प्रश्न के लिए आध घंटे से अधिक समय नहीं देना चाहिए। ऐसा करने से कोई प्रश्न छूट नहीं जाता।

(५) उत्तर लिख लेने के बाद दुहरा लेना चाहिए। दुहराने पर गलतियाँ मिलती हैं और उन्हें सुधार देना चाहिए। दुहराते समय यह भी देखना चाहिए कि प्रश्नों के नम्बर ठीक से लिखे गये हैं और उत्तर की कापी पर रोल नम्बर भी लिखा गया है। इस प्रकार सभी आवश्यक बातों को देखना चाहिए।

शिक्षालय में परीक्षा सम्बन्धी इन आवश्यक बातों की ओर ध्यान देना अध्यापक-वर्ग और विद्यार्थी-समुदाय के लिए अपेक्षित है।

पाठान्तर क्रियायें

उद्देश्य—

शिक्षालय में शिक्षा केवल कक्षा के भीतर ही नहीं प्रदान की जाती। शिक्षा कक्षा के बाहर भी होती है। कक्षा के बाहर की शिक्षा जिसे हम पाठान्तर क्रियायें (Extra Curricular Activities) कहते हैं, शिक्षा और समाज में सम्बन्ध स्थापित करने का सुंदर साधन है। शिक्षालय में शिक्षा प्राप्त करते समय भी समाज के लिए कुछ कर सकना पाठान्तर क्रियाओं की विशेषता है। यदि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समाज के हित के अनुकूल बनाना है तो विद्यार्थियों को समाज से सम्पर्क स्थापित करने का अवसर देना ही होगा। अतः इन सब दृष्टियों से पाठान्तर क्रियाओं का महत्त्व बढ़ जाता है। जिस शिक्षालय मे पाठान्तर क्रियाओं का प्रबन्ध नहीं होता, वहाँ जीवन का अभाव होता है और उसके विद्यार्थी-समुदाय में आरम्भशक्ति तथा नेतृत्व के गुणों का अभाव होता है। इसलिए यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षालय के भीतर शिक्षा का जितना महत्त्व है, उतना ही पाठांतर क्रियाओं का है।

पाठांतर क्रियाओं के उद्देश्य की ओर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि इसके द्वारा विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का विकास होता है। उन्हें पाठांतर क्रियाओं द्वारा नवीन परिस्थितियों में कार्य करना होता है। इससे उनकी शक्तियों को विकसित होने का अवसर मिलता है। साथ मिलकर कैसे कार्य किया जाता है, यह भी वे सीख लेते हैं। सामूहिक कार्यों में नियंत्रण और अनुशासन की आवश्यकता होती है। इसकी भी शिक्षा विद्यार्थियों को मिल जाती है। और सब से बड़ा कार्य जो पाठांतर क्रियाओं द्वारा

होता है, वह है जनतांत्रिक व्यवहार की शिक्षा। आजकल जनतंत्र की माँग है। जनतंत्र क्या है, इसका ज्ञान तो विद्यार्थियों को नागरिक जीवन का अध्ययन करते समय हो जाता है। पर उस जनतंत्र को कार्य रूप में पाठांतर क्रियायें ही दिखाती हैं। अतः पाठान्तर क्रियाओं से बड़ा लाभ है और इन्हीं लाभों को प्राप्त करना पाठान्तर क्रियाओं का उद्देश्य है।

खेल—

नवीन शिक्षा में स्वतंत्रता का प्रमुख स्थान है और इसी दृष्टि से शिक्षा में खेल का महत्त्व है। खेल के और भी कई रूप हैं और इनके भी कई लाभ हैं। शिक्षा द्वारा शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास करने का प्रयास किया जाता है। शारीरिक विकास में खेल से बड़ी सहायता मिलती है। बालकों की माँस-पेशियाँ मजबूत होती हैं और फेफड़े भी शक्तिवान् होते हैं। इसलिए शिक्षालय में खेल का प्रबन्ध शारीरिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।

मानसिक विकास की दृष्टि से भी खेल उपयोगी है। दिन भर की पढ़ाई से विद्यार्थी थक जाता है। लेकिन संध्या समय जब वह खेलने आता है तो उसकी थकावट दूर हो जाती है। इस प्रकार के कार्य-परिवर्तन से विद्यार्थियों की थकान दूर हो जाती है। खेल में मानसिक शक्ति का विकास भी होता है क्योंकि खेलते समय ध्यान लगाना पड़ता है और जीत के उपाय निकालने पड़ते हैं। अतः विद्यार्थियों को विचार भी करना पड़ता है।

खेल से नैतिक विकास में सहायता मिलती है। खेलते समय प्रत्येक खिलाड़ी को ईमानदारी के साथ खेल के नियमों का पालन करना पड़ता है। खेल से विद्यार्थियों में धैर्य और सहन-शक्ति का विकास होता है। खेलते समय उनके सामने हार-जीत

का प्रश्न होता है। लेकिन वे हार जीत के समय खिलाड़ी की भावना से काम लेते हैं। यदि वे हार भी जाते हैं तो खुश रहते हैं और जीत में तो खुशी होती ही है। जीवन में कितने अवसर ऐसे आते हैं जब कि मनुष्य हार मानता है और उदास हो जाता है। उस समय खेल के द्वारा हार का सामना हँसते हुए करने की जो शिक्षा दी गई थी, काम आती है।

सामूहिक खेल—

खेल का प्रधान रूप सामूहिक है। कई बालक एक साथ मिलकर खेलते हैं। हॉकी, फुटबाल, वालीबाल और कबड्डी आदि सामूहिक खेल के प्रमुख रूप हैं। अतः इन खेलों के द्वारा सामूहिक भावना और संगठन में सहायता मिलती है। प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह सामूहिक खेल की व्यवस्था शिक्षालय में करे। यह कार्य भलीभाँति तभी हो पाता है, जब कि निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाय:—

(१) समय-विभाग चक्र में खेल के लिए समय देना चाहिए। कुछ विद्यार्थी दूर से आते हैं और उनके लिए यह संभव नहीं है कि वे छुट्टी के बाद देर तक रुके रहें। इसलिए ऐसे विद्यार्थियों को भी खेल का समय देना चाहिए।

(२) खेल का समय-विभाग चक्र बनाते समय अध्यापकों का भी ध्यान रखना चाहिए। यदि विद्यार्थी किसी अध्यापक के निरीक्षण में खेलेंगे तो अच्छा होगा।

(३) प्रत्येक कक्षा की टीम के नायक अथवा कप्तान का भी चुनाव हो जाना चाहिए। कप्तान के होने से टीम का खेल भलीभाँति होता है। जब कभी अध्यापक अनुपस्थित होता है तब भी कप्तान टोली के खेलने का प्रबन्ध करता है।

(४) कप्तान को खेल के नियमों का पूरा ज्ञान होना चाहिए

और इसी प्रकार विद्यार्थियों को भी। जब तक खेल के उद्देश्य और नियमों का ज्ञान नहीं होता तब तक इससे कोई लाभ नहीं होता।

(५) शिक्षालय में प्रथम श्रेणी के खिलाड़ियों की एक टीम होनी चाहिए। जब दो शिक्षालय के बीच मैच हो तो यह टीम खेल सकती है। अतः शिक्षालय की टीम का चुनाव सावधानी के साथ करना चाहिए।

(६) कभी कभी विभिन्न कक्षाओं के मुकाबिले भी होने चाहिए। कक्षा पाँच की टीम कक्षा ६ से मैच खेले। इस प्रकार के मैच से विद्यार्थियों में मैच जीतने की इच्छा होती है और इसीलिए वे खेल में दक्षता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

(७) शिक्षालय की ओर से जिला टूर्नामेंट में अथवा प्रांतीय टूर्नामेंट में भाग लेने के लिए खिलाड़ी अवश्य भेजे जाँय। टूर्नामेंट में जाने से उन्हें खेल के स्तर का पता लगता है। वे जान जाते हैं कि कितने अच्छे खिलाड़ी होते हैं और उनमें किस बात की कमी है। इस प्रकार उनमें उत्साह बढ़ता है।

स्काउटिंग—

पाठान्तर क्रियाओं में स्काउटिंग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः प्र[illegible]ेक विद्यार्थी को स्काउटिंग सीखने का अवसर मिलना चाहिए। यह [illegible]ो हम जानते ही हैं कि लार्ड बैडेन पावेल ने स्काउटिंग को चलाय[illegible] था। लेकिन हमारे देश में इसका श्रेय श्रीमती एनी बेसेन्ट और पंडित श्रीराम वाजपेयी को है। एक बार लार्ड बैडेन पावेल स[illegible] पूछा गया कि स्काउटिंग क्या है तो उन्होंने जो कुछ कहा उसका स[illegible]रांश इस प्रकार था—"स्काउटिंग एक प्रकार का खेल है, जिसमें अवकाश के समय बड़े भाई अपने छोटे भाइयों के साथ सम्मि-लित होकर उन्हें सत्संग का अवसर देते हैं और ऐसी

बातें सिखाते है जिनसे सयाने होने पर वे अच्छे नागरिक बन सकें।

"स्काउटिंग में वन-भ्रमण और प्राकृतिक सौन्दर्य को देखने और मनन करने के अनेक अवसर मिलते हैं, जिनका गहरा प्रभाव बालकों के शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास में सहायक होता है और उनके चरित्र को सरल और सुंदर बना देता है। स्काउटिंग में प्रत्येक बालक की ओर ध्यान दिया जाता है।"*

लेकिन शिक्षालय में स्काउटिंग की सफलता अच्छे स्काउट मास्टर पर निर्भर है। और अच्छा स्काउट मास्टर कौन हो सकता है इसके सम्बन्ध में लार्ड बैडेन पावेल का विचार है कि सफल स्काउट मास्टर के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं:—

(१) उसका आचार-व्यवहार बालकों जैसा हो और वह अपने बालकों से अच्छी तरह हिल-मिल सके।

(२) वह भिन्न भिन्न अवस्थाओं के बालकों के विचार, इच्छा और आवश्यकताओं को भलीभाँति समझे।

(३) उसका बालकों के साथ व्यवहार व्यक्तिगत हो न कि केवल सामूहिक। दूसरे शब्दों में स्काउट मास्टर प्रत्येक बालक की ओर ध्यान दे सके और आवश्यकतानुसार सहायता दे सके।

(४) प्रत्येक स्काउट में सामूहिक भावना के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए।

(५) वह स्काउट कला में, जहाँतक संभव हो, निपुण हो और शिक्षा-दीक्षा के नियमों को जानता हो।

ऊपर जो बातें स्काउट मास्टर के लिए आवश्यक हैं, वे ही प्रत्येक शिक्षक से भी अपेक्षित हैं। अतः प्रत्येक अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह स्काउटिंग द्वारा विद्यार्थियों का विकास करे।

---

* स्काउट मास्टरी और ट्रुप संचालन—श्री जानकीशरण वर्मा, पृष्ठ २१

वनोपसेवन—

वनोपसेवन स्काउटिंग का प्राण है। यदि वनोपसेवन निकाल दें तो वह नीरस हो जाती है। इसलिए नवीन शिक्षा में वनोपसेवन का बड़ा महत्त्व है। इसी तथ्य के आधार पर वनोपसेवन की उपयोगिता पाठांतर क्रियाओं के रूप में स्वीकार की जाती है। श्री डी. एल. आनन्दराव ने अपनी पुस्तक 'वनोपसेवन' में लिखा है, "बालक ज्यों ज्यों बड़ा होता जाता है, त्यों त्यों वह चाहता है कि यह दुनिया जो उसके लिए एक बड़ी पुस्तक की भाँति है, जिसमें दुनिया के विषय में सब कुछ लिखा है, पढ़ता जाय, समझता जाय और अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य करता जाय। अनुभव, जो जीवन की सफलता के लिए अनिवार्य है, वनोपसेवन में बालक को पग पग पर होता है। वह स्वयं किसी नाटक के प्रमुख पात्र की भाँति प्रकृति के रहस्य का उद्घाटन करता जाता है और उन्हें देख कर चकित होता जाता है। जो बालक घरों में ही पलते हैं, जिनका सम्पर्क बाहरी दुनिया से नहीं हो पाता, जिन्होंने प्रकृति के दर्शन नहीं किया, जिन्हें वनोपसेवन का अवसर नहीं मिला उनकी दशा ठीक उस फूल के पौधे की भाँति है, जिसे बनावटी वातावरण में रखकर नष्ट कर दिया जाता है। जब तक बालक स्वच्छ वायु और जल के प्राकृतिक रूप से परिचित नहीं होता, तब तक उसके जीवन का विकास नहीं होता"।

वनोपसेवन के वास्तविक उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए रावजी लिखते हैं, "वनोपसेवन का वास्तविक उद्देश्य है बालकों में जीवन की सफलता के लिए वह शक्ति उत्पन्न कर देना जिनके सहारे वे बड़ी से बड़ी मुसीबतों का सामना हँसते हुए कर सकें। उनके चरित्र को इतना पक्का कर देना जिससे वे देश के

मान और मर्यादा की रक्षा कर सकें। वनोपसेवन के सम्बन्ध में विस्तार से ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्री डी. एल. आनंदराव, प्रांतीय आर्गनाइजिंग कमिश्नर हिन्द स्काउट की पुस्तक 'वनोप-सेवन' पढ़ना चाहिए। इस पुस्तक में वनोपसेवन सम्बन्धी सभी आवश्यक बातों का समावेश है।

समाज सेवा—

पाठांतर क्रियाओं में समाज सेवा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक विद्यार्थी समाज के लिए कुछ न कुछ अवश्य कर सकता है। महात्मा गाँधी का रचनात्मक कार्यक्रम समाज-सेवा के लिए आदर्श कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। यदि गाँधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि उसमें उन सब बातों का समावेश है जिनकी कि हमारे समाज को आवश्यकता है। लेकिन हमें उसमें उन कार्यों को लेना है जो विद्यार्थियों द्वारा सरलता पूर्वक हो सकता है। इस दृष्टि से निम्नलिखित कार्यक्रम उपयोगी होगाः—

(१) प्रौढ़-शिक्षा (२) ग्राम-सुधार (३) स्वास्थ्य रक्षा और प्राथमिक चिकित्सा का कार्य।

प्रौढ़-शिक्षा—

प्रौढ़-शिक्षा का कार्य समाज सेवा की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। देश से निरक्षरता को दूर करने के लिए प्रौढ़-शिक्षा का कार्य करना होगा। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक देश की उन्नति न होगी। अतः आज देश-प्रेम के निमित्त प्रत्येक विद्यार्थी को प्रौढ़-शिक्षा प्रसार करना होगा। इसके लिए शिक्षालय भवन में एक रात्रि पाठशाला होना चाहिए। यह पाठशाला बालकों की पाठशाला से भिन्न होती है; क्योंकि इसमें उन बातों की प्रधानता होती है जिन्हें प्रौढ़ लोग पसन्द करते हैं। दिनभर की मेहनत

के बाद मनोरंजन की आवश्यकता होती है। इसलिए थका माँदा व्यक्ति मनोरंजन चाहता है। यदि हम चाहते हैं कि प्रौढ़ पाठशाला में अपढ़ व्यक्ति आवें तो उसके मनोरंजन की व्यवस्था करनी होगी। दूसरे शब्दों में उनके लिए एक प्रकार का क्लब अथवा मनोरंजन गृह खोलना पड़ेगा जहाँ वे आकर गायें-बजायें और समाचार सुनें। मनोरंजन के अच्छे ग्रामगीत, आल्हा, रामायण आदि साधन हैं। गाँव के लोग इन्हें बहुत पसंद करते हैं। इसलिए प्रौढ़-पाठशाला में इसकी व्यवस्था होनी चाहिए। लोग समाचार में भी दिलचस्पी रखते हैं। वे जानना चाहते हैं कि सरकार उनके लिए क्या कर रही है। उनकी गरीबी कब दूर होगी। ये सब प्रश्न ऐसे हैं जिनमें साधारण जनता की अभिरुचि है। इसलिए प्रौढ़ पाठशाला में अपढ़ प्रौढ़ की दृष्टि से सभी बातों को देखना और उपस्थित करना चाहिए। इतिहास और भूगोल की बातों को भी कहानी के रूप में सुनाना चाहिए। ऐसा करने से प्रौढ़-शिक्षा का कार्य सफलता पूर्वक हो सकता है। जहाँ तक उन्हें साक्षर बनाने का प्रश्न है, उस पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं है। यह कार्य धीरे धीरे हो सकता है। प्रौढ़-शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य अपढ़ प्रौढ़ के ज्ञान का विस्तार करना है। इसी दृष्टि से कार्य होना चाहिए।

ग्राम-सुधार—

ग्राम-सुधार का कार्य भी विद्यार्थियों द्वारा हो सकता है। रविवार के दिन नगर में स्थिति शिक्षालयों के विद्यार्थी गाँव में जाकर गाँव वालों से मिलें और उनकी आवश्यकताओं को ज्ञात करें तथा उस सम्बन्ध में उचित कार्यवाही करें। कभी कभी ऐसा होता है कि गाँव वालों के लिए जो सरकारी सुविधायें हैं, वे उनतक नहीं पहुँचती। इसलिए गाँव के लोगों की यथाशक्ति

सहायता प्रदान करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त गाँव के लोगों में अंधविश्वास तथा कुछ सामाजिक कुरीतियाँ भी पाई जाती हैं। इनको दूर करने का सबसे सरल उपाय प्रहसन और कैम्पफायर है। गाँव वालों के सामने जुआ खेलने और शराब पीने से जो हानियाँ होती हैं, उन्हें प्रहसन अथवा बातचीत के रूप में विद्यार्थी दिखा सकते हैं। उन्हें ऐसे गीत सुनाये जा सकते हैं जो कुरीतियों से होनेवाली हानियों का प्रदर्शन करते हों। इस प्रकार ग्राम सुधार के काम में प्रहसन और गीतों का प्रयोग करना चाहिए।

स्वास्थ्य रक्षा का कार्य—

गाँव में इलाज की बड़ी कमी है। इसलिए साधारण बीमारियों की पेटेन्ट और सस्ती दवाइयाँ बाँटी जा सकती हैं। यह सभी शिक्षालयों के विद्यार्थी नहीं कर सकते। इसके लिए धन की आवश्यकता होती है लेकिन यदि जिला के हेल्थ अफसर और विकास बोर्ड से इस कार्य में सहायता माँगी जाय तो मिल सकती है। अतः स्वास्थ्य के नियमों को बताना, और साधारण चिकित्सा का प्रबन्ध करना समाज-सेवा का आवश्यक अंग है।

साहित्य परिषद्—

शिक्षालय की पाठांतर क्रियाओं में साहित्य परिषद् भी होना चाहिए। इस परिषद् की ओर से कवि-सम्मेलन, कवि-दरबार, अंताक्षरी, कहानी-प्रतियोगिता, निबन्ध प्रतियोगिता, वादविवाद प्रतियोगिता आदि की व्यवस्था होनी चाहिए। इससे विद्यार्थियों में साहित्य-प्रेम उत्पन्न होता है और वे साहित्य के अध्ययन में मन लगाते हैं। इसलिए साहित्य-परिषद् की स्थापना आवश्यक है।

पार्लियामेन्ट—

स्वतंत्र भारत के लोकतंत्र का महत्त्व और नागरिकता का ज्ञान शिक्षालयों में पार्लियामेन्ट के संगठन द्वारा भली भाँति स्पष्ट

किया जाता है। अतः विद्यार्थियों की पार्लियामेन्ट भी आवश्यक है। पार्लियामेन्ट की रूप रेखा कैसी होती है, इसके विषय में नागरिक-शास्त्र की पुस्तक से विस्तार में ज्ञात हो सकता है। अतः प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों में लोकतंत्र की भावना का विकास करने के लिए पार्लियामेन्ट की ओर विशेष रूप से ध्यान दे।

अन्य पाठांतर क्रियायें—

पाठांतर क्रियाओं के जितने प्रमुख रूप हैं, उनका उल्लेख तो कर दिया गया है, पर कुछ अन्य पाठांतर क्रियायें हैं, जिनकी ओर ध्यान दिया जा सकता है उदाहरण के लिए कला-परिषद् संगीत-परिषद् भूगोल-मंडल, इतिहास-समिति आदि का संगठन विषय की दृष्टि से किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी देशों के शिक्षालयों में विद्यार्थियों को सद्व्यवहार की शिक्षा देने के लिए 'सद्व्यवहार परिषद्' का संगठन होता है। इस परिषद् के वही विद्यार्थी सदस्य होते हैं जो सद्व्यवहार की प्रतिज्ञा करते हैं। अतः अपने देश के विद्यालयों में इस प्रकार की परिषद् का सगठन किया जा सकता है। शिक्षालय में मनोरंजन तथा नाटक के लिए नाट्य समिति का संगठन हो सकता है। तात्पर्य यह है कि विद्याथियों को जहाँ तक संभव हो पाठांतर क्रियाओं की ओर आकषित करना चाहिए; क्योंकि इनसे उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में सहायता मिलती है।

छात्रावास

छात्रावास की उपयोगिता—

छात्रावास का शिक्षालय से घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि इसके द्वारा छात्र की सम्पूर्ण शिक्षा की ओर ध्यान दिया जा सकता है। छात्रावास में रहनेवाले विद्यार्थी को चौबीस घंटे अध्यापक की देखरेख में रहना पड़ता है और उसे वे सुविधायें भी प्राप्त होती हैं जो छात्रावास के बाहर रहनेवाले विद्यार्थियों को नहीं मिलतीं। इसलिए श्री श्यामबिहारीलालजी का विचार है कि "छात्रावास स्वभावतः ही ऐसा होना चाहिए कि उसमें बालक जीवन की सम्पूर्ण शिक्षा प्राप्त करने का अवसर पा सके। स्वस्थ और उपयोगी जीवनयापन, व्यक्तिगत विचार, प्रवृत्तियों के विकास एवं प्रेम पूर्ण आनंदमय कार्यों की शिक्षा द्वारा छात्रवासी को सुखी गृहस्थ जीवन बिताने तथा स्वतंत्र राष्ट्र के अच्छे नागरिक बनने की योग्यता प्रदान करनी चाहिए।" ※

सुपरिन्टेन्डेन्ट—

छात्रावास की देखरेख का कार्य सुपरिन्टेंडेंट करता है। सुपरिटेंडेंट का कार्य वही अध्यापक भली भाँति कर सकता है जिसमें धैर्य हो और जो विद्यार्थियों से सहानुभूति रखता हो। उसे बालमनोविज्ञान का पूर्ण ज्ञान हो। तभी वह छात्रों की आवश्यकता को समझ सकता है। अतः सुपरिन्टेंडेंट का कार्य उसी अध्यापक को देना चाहिए जिसमें ये सब गुण हों। पर इन सब से अधिक चरित्र की आवश्यकता है। सुपरिन्टेन्डेन्ट का

※ "शिक्षा" जनवरी १९४९, पृष्ठ ११६।

आदर्श चरित्र होना चाहिए। तभी वह विद्यार्थियों पर प्रभाव रख सकेगा।

छात्रावास की सफाई—

सुपरिन्टेन्डेन्ट का पहला कार्य है छात्रावास का निरीक्षण करना। उसके निरीक्षण में छात्रावास की सफाई, जल और भोजन का प्रबन्ध प्रमुख है। छात्रावास की स्वच्छता के दो रूप हैं। एक तो है छात्रावास के पूरे भवन की सफाई। इसके लिए छात्रावास में मेहतर होना चाहिए जो झाड़ू दे और पाखाने को भी साफ़ रखे। दूसरे प्रत्येक छात्र अपने कमरे की सफ़ाई की ओर ध्यान दे। कमरे के भीतर मेहतर नहीं जाता। इसलिए भोजनालय का कहार कमरे में झाड़ू लगाता है। लेकिन यह कार्य भली भाँति नहीं हो पाता। इसलिए सुपरिन्टेन्डेन्ट को छात्रों से कहना चाहिए कि वे जिस स्थान पर रहते हों, उसकी सफ़ाई स्वयं करें। उसे इस कार्य को कराने के लिए उनके लिए उनके सामने गाँधीजी के सेवाग्राम के आश्रम का उदाहरण रखना चाहिए। शांतिनिकेतन में भी प्रत्येक छात्र अपने कमरे की सफाई स्वयं करता है। अतः मैं समझता हूँ कि इस प्रकार का नियम छात्रों का सफाई से रहने की आदत प्रदान करता है। इसलिए सुपरिन्टेन्डेन्ट कमरों की सफाई का भार छात्रों के ऊपर छोड़ सकता है।

जल और भोजन—

पीने का पानी यदि साफ़ हो तो अनेक बीमारियों से रक्षा हो सकती है। इसलिए साफ़ पानी की व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसी के साथ भोजन की ओर भी ध्यान जाता है। यदि अच्छा भोजन नहीं मिलता तो भी बीमारी फैलती है। यहाँ अच्छे भोजन से तात्पर्य स्वादिष्ट पकवान से नहीं है, वरन् उस भोजन से है जो स्वास्थ्य वर्द्धक हो। स्वाथ्यवर्द्धक भोजन

वही होता है जिसमें साग भाजी और सलाद की प्रधानता हो। छात्रों को मौसम के अनुसार मिलने वाले फलों को भी देना चाहिए। इसके अतिरिक्त दूध की व्यवस्था हो। जब भोजन की दृष्टि से इस प्रकार की व्यवस्था हो जाती है, तभी प्रबन्ध अच्छा माना जाता है।

चरित्र-निर्माण—

छात्रावास में जो छात्र रहते हैं, उनके चरित्र-निर्माण की ओर भी ध्यान देना सुपरिन्टेन्डेन्ट का कार्य है। चरित्र-निर्माण के लिए सब से पहली बात है समय का उपयोग। अतः सुपरिन्टेन्डेन्ट को देखना चाहिए कि छात्र अपने समय का उपयोग किस प्रकार करते हैं और फिर उनके विभिन्न कार्यों का समय निश्चित कर देना चाहिए।

उदाहरण के लिए छात्रावास में समय के उपयोग की दृष्टि से निम्नलिखित दैनिक कार्यक्रम बनाया जा सकता है। इस कार्यक्रम द्वारा चरित्र-निर्माण में सहायता मिलेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है:—

दैनिक कार्यक्रम—

प्रातः ५ बजे — जागना, शौच, दातून आदि से निवृत होना।
प्रातः ५$\frac{1}{2}$ बजे — सामूहिक प्रार्थना तथा राष्ट्रीय झंडा-अभिवादन। सुपरिन्टेन्डेन्ट द्वारा आवश्यक सूचनाओं की घोषणा।
प्रातः ६ बजे — व्यायाम।
प्रातः ६$\frac{1}{2}$ बजे — कमरे की सफाई और स्नान।
प्रातः ७ बजे — जलपान।
प्रातः ७$\frac{1}{2}$ बजे — स्वाध्याय।
प्रातः ९$\frac{1}{2}$ बजे — भोजन।

प्रातः १० बजे — शिक्षालय में शिक्षा के लिए जाना।
संध्या ४ बजे — शिक्षालय से वापस आना।
,, ४½ बजे — जलपान।
,, ५ बजे — खेल और स्काउटिंग।
,, ६½ बजे — झँडा उतारना और प्रार्थना।
,, ७ बजे — भोजन।
रात्रि ७½ बजे — स्वाध्याय।
रात्रि १० बजे — दातून करना और सो जाना।

छात्रावास का दैनिक कार्यक्रम कुछ इस प्रकार का बनाना चाहिए। यदि छात्रों के प्रत्येक कार्य का समय निश्चित होता है, तो वे भली भाँति कार्य कर पाते हैं। इस कार्यक्रम में सात घंटे सोने के लिए और साढ़े चार घंटे छात्रावास में स्वाध्याय के लिए हैं जो कि पर्याप्त हैं।

जैसा कि पहले व्यक्त किया जा चुका है, चरित्र-निर्माण में समय के उपयोग से सहायता मिलती है।

वातावरण—

छात्रावास के जीवन में विद्यार्थी छात्रावास के वातावरण से प्रभावित होता है। उसमें सामूहिक भावना का उदय होता है। लेकिन इन सब में उस समय अधिक सहायता मिलती है जब कि सुपरिन्टेन्डेन्ट उन्हें माता-पिता का प्रेम और घर की सुविधायें प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में छात्रावास में छात्रों को यथा संभव घर के समान वातावरण मिलना चाहिए। जब हम घर के वातावरण का उल्लेख करते हैं तब हमारा तात्पर्य घर में प्राप्त बालक की स्वतंत्रता, माता-पिता का संरक्षण स्नेह से होता है। इसलिए छात्रावास के वातावरण में सुपरिन्टेन्डेन्ट को इन सब बातों को प्रस्तुत करना होता है। उसे सभी छात्रों के साथ

समान रूप से व्यवहार करना होता है और सुविधायें देनी पड़ती हैं। इस प्रकार सुपरिन्टेन्डेन्ट का कार्य बड़े उत्तरदायित्व का है। उसकी सफलता की माप छात्रों के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करने में है। जैसा कि पहले भी व्यक्त किया जा चुका है बालक शिक्षक के स्नेह और सहानुभूति से प्रभावित होता है। उसे दंड के भय से ठीक मार्ग पर नहीं चलाया जा सकता।

छात्रावास का प्रबन्ध—

छात्रावास के सम्बन्ध में ऊपर जो बातें लिखी गई हैं, यदि हम उन पर प्रबन्ध की दृष्टि से विचार करें तो वे इस प्रकार होंगी :—

(१) छात्रावास का सुपरिन्टेन्डेण्ट आदर्श अध्यापक होना चाहिए। उसका व्यक्तित्व और चरित्र छात्रों पर प्रभाव डालने वाला हो।

(२) छात्रावास का दैनिक कार्यक्रम होना चाहिए जिससे कि सभी कार्य ठीक समय से और भलीभाँति हो।

(३) जल और भोजन की उचित व्यवस्था छात्रावास में होनी चाहिए। इसके लिए सुपरिन्टेन्डेन्ट को पूरा ध्यान देना चाहिए। यदि जल और भोजन में किसी प्रकार की त्रुटि होगी तो छात्रों का स्वास्थ्य खराब होगा।

(४) छात्रावास के छात्रों के स्वास्थ्य-रक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। इसके लिए सुपरिन्टेण्डेन्ट को चाहिए कि वह छात्रों की जाँच प्रतिमास किसी डाक्टर द्वारा कराये। यदि किसी छात्र को कोई कठिन रोग हो गया हो तो उसकी सूचना उसके माता-पिता अथवा अभिभावक के पास भेज दे।

(५) बीमार छात्रों के लिए छात्रावास में कम से कम दो

कमरे अलग होने चाहिएँ। जब कोई छात्र बीमार हो तो उसे इलाज के कमरे में भेज दिया जाय।

(६) छात्रों के स्वास्थ्य के लिये स्वच्छता आवश्यक है। अतः सुपरिन्टेण्डेण्ट को चाहिए कि वह छात्रों के दातून, स्नान और वस्त्रादि की ओर ध्यान दे। जो छात्र स्वच्छ नहीं रहता, उसे स्वच्छ रहने के लिए आदेश दिया जाय।

(७) छात्रावास की स्वच्छता भी आवश्यक है। छात्रों के कमरे की सफाई प्रति दिन होनी चाहिए। इसी प्रकार छात्रावास के हाते, नालियों और पाखाने आदि की सफाई भलीभाँति होनी चाहिए। बहुधा बाहरी सफाई की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। ऐसा नहीं होना चाहिए। सफाई का उद्देश्य स्वास्थ्य-रक्षा है न कि प्रदर्शन।

(८) छात्रावास के प्रबन्ध तथा उत्सव आदि का उत्तरदायित्व छात्रों में वितरित करना चाहिए। ऐसा करने से उनमें कार्य करने की शक्ति आत्मनिर्भरता और नेतृत्व का विकास होता है।

(९) छात्रावास के प्रत्येक कमरे में एक छात्र रहे तो अच्छा है। नहीं तो कमरे इतने बड़े हों कि उनमें कमसे कम तीन छात्र एक साथ रह सकें। ऐसे कमरे अच्छे नहीं होते जिनमें केवल दो ही छात्रों के रहने का प्रबन्ध हो।

(१०) छात्रों के चरित्र-निर्माण की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसलिए उनके समय के उपयोग की ओर ध्यान दिया जाय तथा रात के समय किसी छात्र को घूमने न दिया।

(११) छात्रावास में छात्रों के रूपये जमा करने की व्यवस्था होनी चाहिए। अच्छा हो यदि रुपये सुपरिन्टेण्डेन्ट के पास जमा कर दिए जाँय और जब आवश्यकता हो तो छात्र माँग ले। ऐसा करने से चोरी होने का भय नहीं होता और साथ ही छात्रों को फिजूलखर्ची की आदत भी नहीं पड़ती।

(१२) छात्रावास में दैनिकपत्र, साप्ताहिक और मासिक-पत्रिकाओं की भी व्यवस्था होनी चाहिए। इससे छात्रों के साधारण ज्ञान में वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक उत्सवों का भी आयोजन होना चाहिए जिससे कि उनके मानसिक विकास में सहायता हो।

इस प्रकार छात्रावास के प्रबन्ध की ओर ध्यान देने से कार्य भलीभाँति हो सकेगा।

पुस्तकालय

आवश्यकता—

पुस्तकालय का महत्त्व इस युग में कौन अस्वीकार करेगा। पहले जब मुद्राणालय न थे, तब हस्तलिखित पुस्तकें होती थीं और उस समय सबके लिए पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं। लेकिन प्रेस का आविष्कार हो जाने के कारण एक पुस्तक हजारों और लाखों की संख्या में प्रकाशित होती है और सस्ते मूल्य में सबको प्राप्त होती है। ऐसी दशा में प्रत्येक विषय की प्रमुख पुस्तकें एकत्रित की जा सकती हैं। लेकिन यह एक व्यक्ति के लिए संभव नहीं है कि वह सभी विषयों की पुस्तकों को एकत्र करे। इसलिए पुस्तकालय की व्यवस्था की जाती है। पुस्तकालय के सदस्यों द्वारा जो धन प्राप्त होता है, उससे पुस्तकें प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त पुस्तकालयों को सरकारी सहायता भी मिलती है। इस प्रकार एक पुस्तकालय में नई पुस्तकों को खरीदने की व्यवस्था हो जाती है।

शिक्षालय में भी पुस्तकालय की आवश्यकता है। यह अध्यापक के लिए संभव नहीं है कि वह निश्चित समय के भीतर एक विषय की पूर्ण शिक्षा प्रदान कर दे। इसलिए वह उस विषय की प्रमुख बातों को विद्यार्थियों के मनोविज्ञान के अनुसार पढ़ाता है। दूसरे शब्दों में विद्यार्थियों की रुचि उस विषय के अध्ययन में उत्पन्न की जाती है और जब अध्ययन की रुचि उत्पन्न हो जाती है, तब छात्र अधिक जानना चाहता है। इसलिए उसे पाठ्यक्रम के बाहर की पुस्तकों के अध्ययन की आवश्यकता होती है। इसी दृष्टि से शिक्षालय में पुस्तकालय की उपयोगिता है।

अध्यापकों को भी किसी विषय की शिक्षा देने के लिए उस विषय का पूर्ण अध्ययन करना होता है क्योंकि केवल पाठ्य-

पुस्तक की सहायता से वह विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता। इसलिए पुस्तकालय से अध्यापक वर्ग को भी सहायता मिलती है।

पुस्तकों का चुनाव—

पुस्तकालय की आवश्यकता है, इसे स्वीकार करने के बाद पुस्तकों के चुनाव का प्रश्न उठता है। यह कार्य यदि सावधानी के साथ न किया जाय तो पुस्तकालय का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। इसलिए पुस्तकों का चुनाव करते समय सब से पहले यह ध्यान में रखना चाहिए कि पुस्तकें किन के लिए चुनी जा रही हैं। जब हम इस दृष्टि से पुस्तकों के चुनाव पर ध्यान देते हैं, तब शिक्षालय की सभी कक्षाओं के विद्यार्थियोंकी मानसिक आयु और विविध विषयों के अध्यापकों की ओर विचार जाता है। अतः पुस्तकालय में प्रत्येक कक्षा के विद्यार्थियों की मानसिक आयु के अनुसार पुस्तकें होनी चाहिए। कक्षा एक के विद्यार्थियों को चित्र की पुस्तकें पसन्द आती हैं। उनके लिए ऐसी पुस्तकें चाहिए जिनमें चित्रों की भाषा में कहानियाँ लिखी हों। कक्षा दो के विद्यार्थी बड़े बड़े अक्षरों में प्रकाशित पुस्तकें पढ़ने में सरलता का अनुभव करते हैं। अतः उनकी पुस्तकों में रंगीन चित्र हों और उन चित्रों के आधार पर मोटे अक्षरों में कहानी छपी हों। इसी प्रकार कक्षा तीन चार के विद्यार्थियों की पुस्तकें भी उनकी रुचि और मानसिक आयु के अनुसार हों। दूसरे शब्दों में बाल-साहित्य को भी पुस्तकालय में स्थान दिया जाय।

तरुण-साहित्य—

जो विद्यार्थी बारह वर्ष से लेकर लगभग बीस वर्ष की अवस्था के होते हैं, उन्हें तरुण कहते हैं। इस अवस्था के विद्यार्थियों में

भावना का प्राधान्य होता है। इनके लिए आदर्श का महत्त्व यथार्थ से बढ़कर होता है और ये आत्मनिर्भर होना चाहते हैं। होलिंगवर्थ के अनुसार तरुण के सामने चार समस्यायें प्रधान रूप से आती हैं और वे उसी साहित्य का अध्ययन करना चाहते हैं जो इन समस्याओं पर प्रकाश डाले। वे चार समस्यायें इस प्रकार हैं:—

(१) परिवार से स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयास (२) काम-सम्बन्ध (३) आत्म निर्भरता की भावना, और (४) आदर्श की आवश्यकता।

अतः तरुण विद्यार्थियों के लिए जब पुस्तकों का चुनाव किया जाय तो इन चार समस्याओं की ओर ध्यान दिया जाय; क्योंकि इन्हीं से सम्बन्धित पुस्तकें तरुण चाहते हैं और शिक्षा की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि उन्हें ऐसी पुस्तकों को पढ़ने के लिए दिया जाय जो इन समस्याओं को सुलझाने में सहायता प्रदान करें।

अध्यापकों के लिए पुस्तकें—

पुस्तकालय में अध्यापकों की दृष्टि से भी पुस्तकें होनी चाहिए। अतः प्रत्येक विषय के अध्ययन के लिए पुस्तकों का होना वांछनीय है। इसके अतिरिक्त शब्द-कोश, विश्वभारती जैसी स्थायी साहित्य की पुस्तकें होनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि ऐसी पुस्तकों को भी पुस्तकालय में होना चाहिए जिससे कि अध्यापन-कार्य में सहायता मिले।

पुस्तकों में रुचि—

पुस्तकालय में अच्छी अच्छी पुस्तकों के होते हुए भी उनका कोई उपयोग नहीं होता, जब तक कि पुस्तकों के अध्ययन में रुचि न हो। इसलिए विद्यार्थियों में पुस्तक अध्ययन की रुचि

उत्पन्न करना चाहिए। इसका सरल उपाय यह है कि अध्यापक बालकों को पुस्तकों के सम्बन्ध में बतावे। कक्षा में पढ़ाते समय कोई बात उठती है और अध्यापक उस बात को स्पष्ट करता है, पर साथ ही यह बता भी देता है कि इस विषय को भलीभाँति समझने के लिए अमुक पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए। इस प्रकार विद्यार्थियों में पुस्तक पढ़ने की इच्छा उत्पन्न होती है।

विद्यार्थी पुस्तक पढ़ें, इसके लिए दूसरा उपाय यह है कि कक्षा-अध्यापक के पास भी कुछ पुस्तकें हों और वह उन पुस्तकों को विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए दे। कक्षा-अध्यापक के पास पुस्तक होने से विद्यार्थियों को सुविधा होती है और वे पुस्तकें अध्यापक के चुनाव के अनुसार पढ़ते भी हैं।

पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष भी बालकों में पुस्तक के अध्ययन की रुचि उत्पन्न कर सकते हैं। इसके लिए उन्हें चाहिए कि वे जब कोई बालक उनके पास पुस्तक लेने के लिए आवे तो उसे उसकी रुचि के अनुसार पुस्तक दें तथा जिस विषय की पुस्तक वह चाहता हो, उस विषय से सम्बन्धित कुछ अन्य पुस्तकों के सम्बन्ध में भी बतावे। वह नई पुस्तकों की सूचना भी विद्यार्थियों को देता रहे। इस प्रकार शिक्षालय में पुस्तकालय की उपयोगिता बढ़ेगी। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पुस्तकालय में पत्र-पत्रिकायें भी आनी चाहिए और परीक्षा के प्रश्नपत्रादि भी होने चाहिए जिससे कि पुस्तकालय अधिक उपयोगी बन सके।

पुस्तकालय प्रबन्ध—

पुस्तकालय की सफलता उसके प्रबन्ध की रूपरेखा पर निर्भर होती है। यदि प्रबन्ध में कोई कमी आ जाती है तो उसकी उपयोगिता कम हो जाती है। इसलिए प्रबन्ध की दृष्टि से निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है:—

(१) पुस्तकालय में पुस्तकों को लेने और देने का समय निश्चित हो। यदि पुस्तक समय पर न लौटाई जाय तो जुर्माना हो।

(२) पुस्तक की रक्षा का समुचित उपाय हो। विद्यार्थी जब पुस्तक ले जाँय तो सावधानी के साथ पढ़ें और गंदी न करें। इसके सम्बन्ध में पुस्तकाध्यक्ष को चाहिए कि वह प्रत्येक पुस्तक में इस प्रकार की सूचना दे दे। बहुधा लोग पढ़ते पढ़ते पुस्तक का पृष्ठ मोड़ कर रख देते हैं। ऐसा करने से पुस्तक नष्ट होती है।

(३) पुस्तकालय प्रबन्ध की दृष्टि से यह आवश्यक है कि पुस्तकाध्यक्ष को सभी पुस्तकों के विषय में ज्ञात हो कि वे कहाँ रखी हैं और किस विषय की हैं। ऐसा होने से वह सरलतापूर्वक पुस्तक निकाल कर दे सकता है और पुस्तकों के सम्बन्ध में बता भी सकता है।

(४) पुस्तकालय में इस प्रकार का भी प्रबन्ध हो कि विद्यार्थी पुस्तक की आलमारियों को खोलकर देख सकें और अपनी इच्छानुसार पुस्तक चुन सकें।

(५) प्रतिमास कोई न कोई नवीन पुस्तक पुस्तकालय में आनी चाहिए और उसकी सूचना 'नोटिस बोर्ड' पर लगा देनी चाहिए।

(६) जो दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र पुस्तकालय में आवें, उनकी फाइल रखनी चाहिए।

(७) पुस्तकालय में पुस्तकों के महत्त्व के सम्बन्ध में महान् पुरुषों की उक्तियों को लिखकर लगा देना चाहिए। इन उक्तियों को पढ़कर विद्यार्थियों के मन में पुस्तक-अध्ययन की रुचि उत्पन्न होगी।

पुस्तकालय के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका उद्देश्य केवल इतना है कि पुस्तकों का शिक्षा में आवश्यक स्थान है। वे भी शिक्षा के साधन हैं। अतः शिक्षालय प्रबन्ध में उनकी ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। यदि विद्यार्थियों में अध्ययन की आदत आ जाती है तो वे शिक्षालय से शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी पुस्तकें पढ़ते रहते हैं। इस प्रकार उनकी शिक्षा जीवन पर्यन्त चलती रहती है।

गृहकार्य

उद्देश्य—

गृहकार्य, जैसा कि शब्द के अर्थ से ही ज्ञात होता है वह कार्य है जिसे विद्यार्थी घर पर करता है। जो विद्यार्थी छात्रावास में रहते हैं, उनका घर भी यहाँ छात्रावास ही मान लिया गया है। दूसरे शब्दों में गृहकार्य शिक्षालय से छुट्टी हो जाने पर होता है। इसका उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार अध्ययन करे और उसके समय का उपयोग हो। शिक्षा में व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की ओर ध्यान दिया जाता है। यह कार्य शिक्षालय और घर दोनों में होता है। शिक्षालय में बालक लगभग पाँच घंटे व्यतीत करता है और घर पर उन्नीस घंटे। अतः जहाँ उसके जीवन का अधिक समय व्यतीत होता हो, उसके विषय में ध्यान देना आवश्यक है। बालक घर पर समय किस प्रकार व्यतीत करता है, यह अध्यापक को जानना चाहिए। और घर पर जो समय मिलता है, उसके उपयोग के लिए गृहकार्य देना चाहिए।

शिक्षालय और गृह—

गृहकार्य और शिक्षालय के कार्य में अंतर है। शिक्षालय में शिक्षण-कार्य समय-विभाग चक्र के आधार पर होता है और उस कार्य का रूप सामूहिक होता है। सभी विद्यार्थी उस समय-विभाग चक्र के अनुसार कार्य करते हैं। लेकिन घर पर विद्यार्थी स्वतंत्र होता है। इसलिए वह व्यक्तिगत अभिरुचि के अनुसार कार्य कर सकता है। व्यक्तिगत रुचि की दृष्टि से गृहकार्य होना चाहिए। घर पर विद्यार्थी जो कार्य करता है, उसमें उसकी रुचि की प्रधानता होनी चाहिए। इस प्रकार शिक्षालय और गृह के

कार्य में रुचि और स्वतंत्रता की दृष्टि से अंतर होता है। घर पर विद्यार्थी को स्वतंत्रता होती है कि वह अपनी रुचि के अनुसार अध्ययन करे।

गृहकार्य की विशेषता—

विद्यार्थी को जो भी गृहकार्य दिया जाय उसमें निम्नलिखित विशेषतायें होनी चाहिएँ। यदि गृहकार्य में नीचे लिखी बातों का अभाव है तो वह गृहकार्य हानिकर होगा:—

(१) गृहकार्य विद्यार्थी की रुचि के अनुसार हो। जिस विषय की ओर विद्यार्थी की विशेष रुचि हो उसके विशेष अध्ययन का कार्य गृहकार्य हो सकता है।

(२) गृहकार्य शिक्षालय में किए गये कार्य से भिन्न हो। इस प्रकार की भिन्नता से विद्यार्थियों में रुचि उत्पन्न होती है। यदि शिक्षालय के कार्य ही को गृहकार्य के रूप में दे दिया जाता है तो विद्यार्थियों की दिलचस्पी नहीं होती। इसलिए भिन्नता (Variety) आवश्यक है।

(३) गृहकार्य जहाँतक हो सके, ऐच्छिक हो। उसके लिए किसी प्रकार का बंधन न हो। बंधन होने से विद्यार्थी में रुचि का अभाव हो जाता है।

(४) गृहकार्य स्वाध्याय के लिए हो न कि परीक्षा के लिए। स्वाध्याय की प्रधानता गृहकार्य की विशेषता है।

(५) गृहकार्य ऐसा हो जिसे विद्यार्थी स्वयं कर सके। उसे किसी की सहायता लेने की आवश्यकता न हो। इस प्रकार उसमें स्वावलम्बन का भाव उत्पन्न होता है। यदि इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता तो विद्यार्थी गृहकार्य को नहीं कर पाता और वह दूसरों की नक़ल करता है अथवा अन्य कोई ग़लत तरीक़ा काम में लाता है।

(६) विद्यार्थियों को ऐसे कार्य गृहकार्य के रूप में दिए जाँय जिनसे उनकी प्रवृत्तियों को विकसित होने का अवसर मिले। उदाहरण के लिए उनकी संग्रह की प्रवृत्ति को तरह तरह की पत्तियों को एकत्रित करने में लगाया जा सकता है।

(७) गृहकार्य को देते समय विद्यार्थी की मानसिक आयु का ध्यान रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में शिक्षा-विभाग ने यह आदेश दे रखा है कि कक्षा एक के विद्यार्थियों को किसी प्रकार का गृहकार्य न दिया जाय। उनका गृहकार्य खेलना है। अतः उन्हें खेलने के लिए समय मिलना चाहिए। कक्षा दो और तीन के विद्यार्थियों को एक घंटे का गृहकार्य और कक्षा चार और पाँच के विद्यार्थियों को दो घंटे का गृहकार्य देना चाहिए। उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के गृहकार्य का समय लगभग तीन घंटे का होना चाहिए।

(८) गृहकार्य देते समय अध्यापक को ध्यान में रखना चाहिए कि विद्यार्थी को अन्य अध्यापकों ने भी गृहकार्य दिया होगा। इसलिए गृहकार्य इतना दिया जाय जिसे कि विद्यार्थी पूरा कर सके। बहुधा यह देखा गया है कि एक अध्यापक विद्यार्थी को इतना गृहकार्य दे देता है कि वह अन्य अध्यापकों के गृहकार्य के कारण उस कार्य को पूरा नहीं कर पाता। समय के अभाव के कारण जो कार्य अधूरा रह जाता है, उसे विद्यार्थी पूरा करने के लिए गलत तरीके काम में लाता है। कभी वह नकल करता है तो कभी वह किसी दूसरे छात्र से अपना काम करा लेता है। इस प्रकार गृहकार्य का जो उद्देश्य है, वह पूरा नहीं हो पाता। इतना ही उसका परिणाम बुरा होता है और विद्यार्थी में कई दोष आ जाते हैं। जो दोष इस प्रकार विद्यार्थी में उत्पन्न हो जाते हैं, उनका कारण अध्यापक की असावधानी है। यदि वह समझ कर गृहकार्य देता तो इस प्रकार की स्थिति ही उत्पन्न न होती।

(९) गृहकार्य समय की दृष्टि से निश्चित करना चाहिए। पर इसके साथ विद्यार्थी की कार्यशक्ति का भी ध्यान रखना चाहिए। कुछ विद्यार्थी एक कार्य को कम समय में पूरा कर सकते हैं तो कुछ को उसीके लिए अधिक समय की आवश्यकता होगी। इस दशा में सरल उपाय यह है कि औसत को काम में लाया जाय। औसत समय गृहकार्य के लिए निश्चित करने में किसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न नहीं होती।

(१०) गृहकार्य कितना दिया गया, इस सम्बन्ध में प्रत्येक अध्यापक को मालूम होना चाहिए। इसके लिए प्रीफेक्ट को यह आदेश दे देना चाहिए कि वह गृहकार्य का ब्योरा रखे। जब किसी प्रकार का गृहकार्य दिया जाता है तो प्रीफेक्ट विषय और समय को लिख लेता है और जब दूसरा अध्यापक गृहकार्य देने के पूर्व पूछता है तो उसे बता देता है। इस प्रकार प्रत्येक अध्यापक को ज्ञात हो जाता है कि किस दिन विद्यार्थियों को कितना गृहकार्य करना है।

गृहकार्य के सम्बन्ध में ये बातें शिक्षालय की दृष्टि से लिखी गई हैं। पर वास्तव में गृहकार्य से सब से बड़ा लाभ यह होता है कि विद्यार्थी में स्वाध्याय की आदत पड़ जाती है और इस प्रकार शिक्षालय छोड़ने के बाद भी उसका स्वाध्याय चलता रहता है। इस स्वाध्याय से उसको जीवन में सफलता मिलती है और वह एक अच्छा नागरिक बन कर समाज का हित कर पाता है।

संरक्षक से सम्पर्क

आवश्यकता—

शिक्षालय में जो विद्यार्थी पढ़ते हैं, उनके माता-पिता तथा संरक्षकों से सम्पर्क की आवश्यकता पड़ती है। सम्पर्क की आवश्यकता के कई कारण हैं। सर्वप्रथम बालक की शिक्षा है। बालक की शिक्षा का उत्तरदायित्व जितना अध्यापक पर है, उतना ही संरक्षक पर है क्योंकि अध्यापक और विद्यार्थी का सम्बन्ध पाँच घंटे का है और संरक्षक तथा बालक का सम्बन्ध उन्नीस घंटे का। इसलिए बालक की समुचित शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक और संरक्षक में सम्पर्क हो। सम्पर्क होने से संरक्षक को यह मालूम होता रहता है कि बालक की शिक्षा में क्या कमी है अथवा क्या उन्नति हो रही है।

सम्पर्क के उपाय—

संरक्षकों से सम्पर्क स्थापित करने के कई उपाय हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसे संरक्षक बहुत कम होते हैं जो अध्यापक अथवा प्रधानाध्यापक से अपने-आप सम्पर्क स्थापित कर लें। अतः सम्पर्क स्थापित करने के लिए उपाय की आवश्यकता होती है। इसके लिए निम्नलिखित उपाय काम में लाए जा सकते हैं:—

भर्ती का समय—

(१) शिक्षालय में जब बालक की भर्ती हो उस समय प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह उन बालकों का नाम पहले

स्वीकार करे जो अपने संरक्षकों के साथ आये हों। जब इस प्रकार का नियम हो जाता है तब सभी बालक अपने संरक्षकों के साथ आते हैं। अतः प्रधानाध्यापक को संरक्षक से सम्पर्क स्थापित करने का यह प्रथम अवसर मिलता है।

(२) बालक का नाम लिखाने के लिए जब संरक्षक प्रधानाध्यापक के पास आवे तो प्रधानाध्यापक को कहना चाहिए कि आपका कर्त्तव्य केवल बालक का नाम शिक्षालय में लिखा देने से ही पूरा नहीं हो जाता। अब से आपको भी बालक की शिक्षा की ओर उतना ही ध्यान देना होगा जितना कि हमें। इसलिये यह आवश्यक है कि हम और आप समय समय पर मिलते रहें।

उत्सव—

(३) जब बालक का नाम लिख लिया जाय तो कुछ दिनों के बाद संरक्षकों को शिक्षालय में किसी उत्सव के अवसर पर आमंत्रित किया जाना चाहिए। इस प्रकार प्रधानाध्यापक और अध्यापकों से संरक्षकों का सम्पर्क होता है। शिक्षालय में इस प्रकार के समय-समय पर होनेवाले उत्सव संरक्षकों से सम्पर्क स्थापित करने में सहायता प्रदान करते हैं।

संरक्षक-दिवस—

(४) संरक्षकों से सम्पर्क स्थापित करने का चौथा उपाय है 'संरक्षक दिवस' का मनाना। वर्ष में एक दिन शिक्षालय द्वारा 'संरक्षक-दिवस' मनाया जाय जिसमें सभी विद्यार्थियों के संरक्षक उपस्थित हों। इस दिन जलपान और मनोरंजन तथा शिक्षालय की शिक्षा के सम्बन्ध में भाषण आदि का कार्यक्रम रखा जाय। संरक्षकों के लिए जल-पान का प्रबन्ध विद्यार्थियों द्वारा हो। बहुत ही अच्छा हो यदि जलपान भी विद्यार्थी ही तैयार

करें। मनोरंजन का कार्यक्रम भी विद्यार्थियों द्वारा प्रस्तुत किया जाय। मनोरंजन के कार्यक्रम में एकांकी नाटक, प्रहसन और संगीत को स्थान दिया जा सकता है।

संरक्षक समिति—

(५) संरक्षकों से सम्पर्क को दृढ़ करने के लिए संरक्षक दिवस के समय पर संरक्षक समिति का संघटन करना चाहिए। इस समिति की एक कार्यकारिणी बना दी जाय। इसका कार्य होगा शिक्षालय की उन्नति में सहायक होना। शिक्षालय को समाज से जिस प्रकार की सहायता की आवश्यकता हो उसके लिए संरक्षक समिति को कार्य करना चाहिए। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि शिक्षालय की प्रबन्ध-समिति का कार्य संरक्षक समिति से भिन्न है। जो शिक्षालय सरकारी हैं उनकी बात तो अलग ही है। वहाँ तो प्रबन्ध समिति की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन जिन शिक्षालयों का प्रबन्ध जनता द्वारा होता है उसकी प्रबन्ध समिति होती है और उसका कार्य शिक्षालय का प्रबन्ध आर्थिक दृष्टि से करना होता है। इसके लिए यह अच्छा होता है यदि इस प्रकार का नियम बना दिया जाय कि प्रबन्ध समिति में कम से कम तीन सदस्य ऐसे हों जिनके बालक शिक्षालय में शिक्षा पाते हों। इस प्रकार संरक्षकों और प्रबन्ध समिति में सहयोग स्थापित हो जाता है।

प्रगति-पत्र—

संरक्षकों से सम्पर्क स्थापित करने में विद्यार्थी का पाक्षिक अथवा मासिक प्रगति-पत्र सहायक होता है। इसके लिए प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह कुछ इस प्रकार का प्रगति-पत्र छपवा ले:—

स्कूल का नाम

विद्यार्थी का नाम— कक्षा — महीना—

विषय	पूर्णांक	प्राप्त अंक	अध्यापक के विचार
भाषा	१००		(स्वास्थ्य, चरित्र तथा शिक्षा पर)
गणित	१००		
इतिहास	१००		
भूगोल	१००		
नागरिक शास्त्र	१००		
सामान्य विज्ञान	१००		
कला-कौशल	१००		
संगीत	१००		हस्ताक्षर (अध्यापक)
बागवानी	१००		
उपस्थिति			

हस्ताक्षर (अभिभावक) हस्ताक्षर (प्रधानाध्यापक)

ऊपर दिए गये प्रगति-पत्र की रूपरेखा के अनुसार प्रगति-पत्र बनाया जा सकता है। इस प्रगति-पत्र को बालक हर महीने अपने संरक्षक के पास ले जाकर हस्ताक्षर करायेगा। हस्ताक्षर करते समय संरक्षक को ज्ञात होगा कि बालक किस विषय में भलीभाँति शिक्षा प्राप्त कर रहा है और उसमें किस बात की कमी है। इस प्रगति-पत्र पर संरक्षक को मिलने के लिए भी लिखा जा सकता है। इस प्रकार संरक्षक से सम्पर्क स्थापित करने में प्रगति-पत्र बड़ी सहायता करता है।

शिक्षालय-भवन

भवन की स्थिति—

शिक्षालय संगठन सम्बन्धी प्रायः सभी बातों पर विचार करने के पश्चात् हमें अब उन वस्तुओं की ओर भी ध्यान देना है जिनका कि शिक्षालय से सम्बन्ध है। इस दृष्टि से शिक्षालय-भवन पर विचार करना आवश्यक है।

शिक्षालय-भवन किस भूमि पर बनाया जाय, यह सबसे पहला प्रश्न है क्योंकि भवन तो भूमि पर बनता है न कि आकाश मे। अतः भूमि का चुनाव करना पड़ता है। शिक्षालय-भवन की भूमि का चुनाव करते समय निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना चाहिए:—

(१) शिक्षालय-भवन की स्थिति की दृष्टि से ऐसी भूमि को चुनना चाहिए जहाँ विद्यार्थी सुविधापूर्वक पहुँच सकें। यदि शिक्षालय-भवन ऐसे स्थान पर बनाया जायगा जो कि बहुत दूर है और जहाँ पहुँचने में बहुत समय लगता हो, तो उसकी उपयोगिता कम हो जायगी।

(२) शिक्षालय भवन की स्थिति के लिए ऐसी भूमि को चुनना चाहिए जहाँ प्रकाश की कमी न हो। यदि भवन को किसी पहाड़ी अथवा टीले के नीचे बनाया जाता है तो धूप मिलने में कठिनाई होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षालय-भवन की स्थिति ऊँची भूमि पर हो।

(३) भवन की स्थिति को निश्चित करते समय इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि शिक्षालय के समीप किसी प्रकार का शोर गुल न होता हो। यदि शिक्षालय-भवन ऐसे स्थान पर बनाया जाता है जहाँ कोई कारखाना हो अथवा रेल

का स्टेशन हो तो शोर होता रहेगा। इसलिए जहाँ तक संभव हो, ऐसे स्थान को चुनना चाहिए जो शांतिमय हो।

(४) शिक्षालय-भवन की भूमि ऐसी हो जहाँ बरसाती पानी इकट्ठा न होता हो। यदि भूमि ढालू है तो वहाँ बरसाती पानी जमा न होगा और किसी प्रकार से नमी उत्पन्न न होगी। लेकिन यदि भूमि ऐसी है जहाँ बरसाती पानी जमा हो जाता है तो मिट्टी नम हो जाती है और फिर शिक्षालय भवन में भी सीलन पैदा हो जाती है। सीलन से बीमारी फैलती है। इसलिए विद्यार्थियों के स्वास्थ्य पर भी प्रभाव पड़ता है।

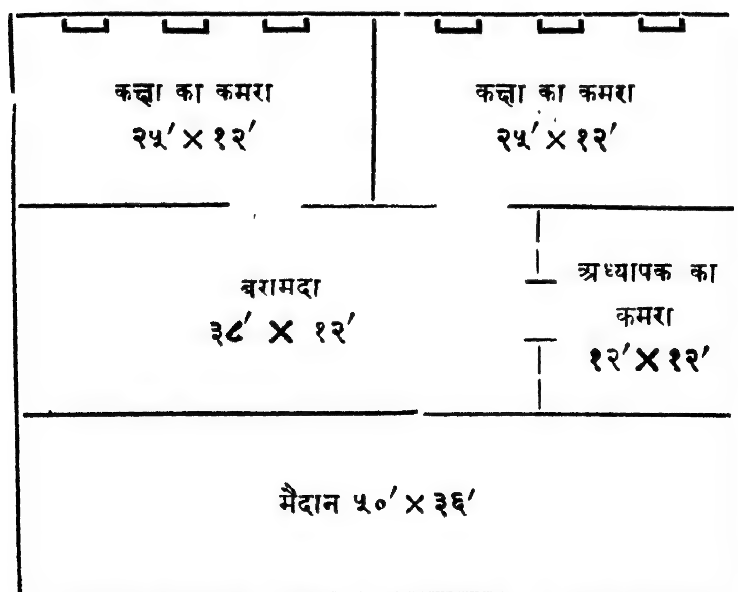
(५) शिक्षालय-भवन के लिए भूमि चुनते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि विद्यार्थियों के खेल का मैदान और बाग़ भी पास ही हो। यदि खेल का मैदान शिक्षालय के समीप होता है तो विद्यार्थियों को सुविधा होती है। इसी प्रकार शिक्षालय के पास बाग़ और खेत की भूमि होने से खेती और बाग़वानी की शिक्षा भी भलीभाँति दी जा सकती है।

भवन का निर्माण—

शिक्षालय-भवन के लिए उपयुक्त भूमि मिल जाने पर भवन का निर्माण होना चाहिए। निर्माण के समय यह ध्यान रखना चाहिए कि भवन की नींव-भूमि में सड़ी-गली पत्तियाँ तो नहीं हैं। यदि हैं तो भवन की दीवार के लगभग एक ग़ज की दूरी तक सीमेंट और गिट्टी भरवा कर सड़ी-गली पत्तियों से आने-वाली गंदी वायु को रोकना चाहिए। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि भवन की 'कुर्सी' (Plinth) की ऊँचाई एक ग़ज से कम न हो। यदि भवन भूमि से एक ग़ज की ऊँचाई पर बनाया जाता है तो भवन में गंदगी कम होती है।

भवन के निर्माण के समय भवन के नक़शे का सवाल उठता

है। भवन की बनावट पर ही शिक्षालय-भवन की उपयोगिता निर्भर करती है। यदि शिक्षालय-भवन ऐसा है जिसमें धूप नहीं आती और जिसमें वायु के आने-जाने का भी ध्यान नहीं रखा गया तो वह भवन बेकार है। इसी प्रकार शिक्षण-कार्य की आवश्यकता की दृष्टि से भी भवन में कमरों का आकार और संख्या का ध्यान रखना पड़ता है। यदि भवन में कमरे कम हैं अथवा छोटे हैं तो भी शिक्षालय के कार्य में अड़चन होती है। अतः शिक्षालय-भवन का नकशा, इन सभी बातों को ध्यान में रखकर बनाया जाय। संयुक्त प्रांत के शिक्षा-विभाग ने शिक्षालय-भवन के लिए कई प्रकार के नक़शों को स्वीकार किया है। यहाँ प्राइमरी स्कूल (अब बेसिक स्कूल) भवन का नक़शा उदाहरण-स्वरूप दिया जाता है:—



ऊपर के नकशे में दिशायें उसी प्रकार हैं जैसे कि भूगोल के

नकशे में होती हैं। इस नकशे में शिक्षालय भवन का मुँह दक्षिण की ओर रखा गया है। भवन के सामने मैदान है। मैदान के बाद बरामदा है। बरामदे में आकर दो कमरों के दो दरवाज़े मिलते हैं और दाहिने हाथ पूरब की ओर अध्यापक का कमरा है। कक्षा के कमरों में उत्तर की ओर तीन खिड़कियाँ रखी गई हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि युक्तप्रांत में सूर्य प्राय: दक्षिण दिशा में होता है। इसलिए भवन का मुँह दक्षिण में होने से प्रकाश की कमी नहीं होती। दूसरी बात यह है कि उत्तर की ओर खिड़कियों के होने से पर्याप्त मात्रा में वायु भी आती रहती है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि हमारे प्रांत में गर्मी के दिनों में वायु दक्षिण की ओर से और जाड़े के दिनों में उत्तर की ओर से आती है। इसलिए भवन में जब खिड़की को उत्तर की ओर रखते हैं तो जाड़े की ठंडी हवा से बचत होती है और साथ ही दरवाज़े दक्षिण में होने के कारण सूर्य का प्रकाश भी मिलता रहता है। इसी प्रकार गर्मी के दिनों में जब हवा दक्षिण दिशा से आती है तो दरवाजे दक्षिण में होने के कारण कमरे में अधिक हवा आती है और गर्मी से कुछ बचत अवश्य होती है। अत: शिक्षालय-भवन के लिए ऊपर जो नकशा दिया गया है, उसमें इन सभी बातों का ध्यान रखा गया है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बेसिक स्कूल में कक्षा एक से पाँच तक की शिक्षा होती है। इस प्रकार पाँच कमरों की आवश्यकता होती है। इसके लिए यह कर सकते हैं कि तीन कमरे उत्तर की ओर और एक एक कमरा पूरब और पश्चिम की ओर बनाया जा सकता है।

भवन की आवश्यकताएँ—

एक अच्छे शिक्षालय भवन की क्या आवश्यकताएँ हैं, यदि

इस पर विचार किया जाय तो सबसे पहले स्थान की ओर ध्यान जाता है। भवन में पर्याप्त स्थान होना चाहिए। साधारणतः एक विद्यार्थी के लिए १५ वर्ग फीट स्थान होना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि कक्षा का कमरा २५′ × १२′ = ३०० वर्ग फीट है तो इस कमरे में १५ वर्ग फीट प्रत्येक विद्यार्थी के अनुसार बीस विद्यार्थियों के बैठने का प्रबन्ध करना चाहिए। इसी प्रकार कमरे की ऊँचाई भी इतनी हो कि पर्याप्त मात्रा में वायु कमरे के भीतर आ सके। साधारणतः एक विद्यार्थी को पचास घन फीट वायु मिलनी चाहिए। वायु के बाद प्रकाश की ओर भी ध्यान जाना स्वाभाविक है। भवन में इतनी खिड़कियाँ हों कि सूर्य का प्रकाश आ सके।

शिक्षालय की सामग्री—

शिक्षालय-भवन के निर्माण के पश्चात् शिक्षालय सामग्री की आवश्यकता होती है। इस सम्बन्ध में युक्तप्रांतीय शिक्षा विभाग प्रत्येक शिक्षालय में निम्नलिखित वस्तुओं का होना आवश्यक समझता है:—

(१) अध्यापकों के लिए मेज और कुर्सियाँ (२) छात्रों के बैठने के लिए स्टूल और डेस्क (३) पुस्तक, कापियाँ और रजिस्टर आदि को रखने के लिए आलमारियाँ या संदूक (४) श्यामपट और झाड़न (५) घड़ी और घंटा (६) पानी के लिए बर्तन।

रजिस्टर—

शिक्षालय में प्रबन्ध की दृष्टि से शिक्षा-विभाग के अनुसार निम्नलिखित रजिस्टर होने चाहिएँ:—

(१) प्रवेश (दाखिला) रजिस्टर (२) उपस्थिति

(हाजिरी) और फीस रजिस्टर (३) निरीक्षण रजिस्टर (४) स्याह रजिस्टर (५) ट्रांसफर सर्टीफिकेट रजिस्टर (६) सामान का रजिस्टर (७) प्रवेशपत्रों को रखने की कापी (गार्डबुक) (८) दूसरे शिक्षालयों से विद्यार्थियों द्वारा पाये गये सर्टीफिकेटों को रखने की कापी। (९) सहायक अध्यापकों के कार्य के निरीक्षण का रजिस्टर।

शिक्षण-सामग्री—

शिक्षालय में शिक्षण-सामग्री भी आवश्यक है; क्योंकि बिना शिक्षण-सामग्री के शिक्षा-कार्य भलीभाँति नहीं चल सकता। अतः निम्नलिखित सामग्री आवश्यक है:—

(१) कला-कौशल, कृषि, बागवानी व गणित और सामान्य विज्ञान सम्बन्धी आवश्यक सामग्री (२) भूगोल और इतिहास सम्बन्धी नकशे, चित्र और ग्लोब (३) म्यूजियम जिसमें कि विभिन्न विषयों से सम्बन्धित वस्तुओं का संग्रह किया गया हो।

शिक्षण-सामग्री की रक्षा—

शिक्षालय में शिक्षण-सामग्री की रक्षा और उपयोग की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। यदि इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता तो सामग्री नष्ट हो जाती है और यह संभव नहीं है कि बार बार शिक्षण-सामग्री मँगाई जाय। अतः इस दृष्टि से निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है:—

(१) शिक्षण-सामग्री की एक सूची होनी चाहिए और जो सामग्री किसी को दी जाय उसका भी ब्योरा रखा जाय।

(२) शिक्षण-सामग्री के रखने का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। इसके लिए स्थान नियत होना चाहिए। जिस स्थान से सामग्री हटाई जाय, उसी स्थान पर फिर लाकर रख देना चाहिए।

(३) शिक्षण-सामग्री की प्रतिदिन देखभाल की जाय। यदि कोई सामग्री खराब हो गई हो तो उसकी मरम्मत तुरन्त करवा देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त गर्द और धूल से भी शिक्षण-सामग्री को साफ रखना चाहिए।

कक्षा का कमरा—

शिक्षालय-भवन में कक्षाओं के लिए कमरे होते हैं। इन कमरों में विद्यार्थियों के बैठने के लिए स्टूल और डेस्क आदि होते हैं। इसके अतिरिक्त कक्षा में एक आलमारी या संदूक होती है। इसलिए किसी प्रकार के प्रबन्ध की आवश्यकता पड़ती है। यदि स्टूल और डेस्क आदि के रखने की व्यवस्था भलीभाँति न की जाय तो कक्षा-प्रबन्ध में अड़चन होती है। इसलिए कमरे में सामान रखने का प्रबन्ध किस प्रकार किया जाय, विचारणीय है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना चाहिए:—

(१) कमरे में विद्यार्थियों के लिए जो डेस्क हैं, उनमें कुछ छोटे होने चाहिए और कुछ बड़े। छोटे डेस्क छोटे विद्यार्थियों को और बड़े डेस्क बड़े विद्यार्थियों को देने चाहिए।

(२) कक्षा में छोटे डेस्क आगे की पंक्ति में और बड़े डेस्क पीछे की पंक्ति में लगाये जाँय जिससे कि सभी विद्यार्थियों को श्यामपट देखने में सुविधा हो।

(३) कमरे में डेस्क की पंक्ति इस प्रकार लगाई जाय कि खिड़कियाँ विद्यार्थियों की बाँई ओर हों। बाँई ओर से प्रकाश आने के विचार से ही ऐसा किया जाता है। यदि इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया जाता तो भलीभाँति दिखाई नहीं पड़ता।

(४) विद्यार्थियों के बैठने का प्रबन्ध इस प्रकार किया जाय कि सब को कम से कम पन्द्रह वर्ग फीट स्थान मिल सके तथा श्यामपट और नकशा आदि देखने में सहूलियत हो।

(५) अध्यापक की मेज़ डेस्क की प्रथम पंक्ति से लगभग चार फीट की दूरी पर हो। यदि मेज़ प्रथम पंक्ति के अत्यन्त निकट होती है, तो वह अध्यापक प्रथम पंक्ति के छात्रों पर दृष्टि नहीं रख पाता।

(६) कक्षा में श्यामपट इस प्रकार रखना चाहिए कि उसमें प्रकाश से चमक न उत्पन्न हो। यदि श्यामपट चमकता है तो विद्यार्थियों को असुविधा होती है।

(७) कक्षा में आलमारी या संदूक को ऐसे स्थान पर रखना चाहिए कि शिक्षण कार्य में सुविधा हो। अतः आलमारी अध्यापक के दाहिने ओर कोने में रखी जा सकती है। ऐसा करने से किसी प्रकार की अड़चन न होगी।

सम्मिलित कक्षायें—

प्राइमरी बेसिक शिक्षालयों में जितनी कक्षायें होती हैं, उतने अध्यापक नहीं होते। इसलिए दो कक्षाओं का प्रबन्ध एक साथ करना होता है। इसके लिए अध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों के बैठने का प्रबन्ध इस प्रकार करे कि वह सभी विद्यार्थियों पर दृष्टि रख सके। यह तभी संभव है जब कि कमरा अथवा बरामदा इतना बड़ा हो कि दो विद्यार्थी एक साथ बैठ सकें। अतः जब दो कक्षाओं के बैठने के लिए पर्याप्त स्थान हो उस समय विद्यार्थियों को इस प्रकार बैठाया जाय कि अध्यापक सब पर दृष्टि रख सके। इसके अतिरिक्त सम्मिलित कक्षाओं का समय-विभाग चक्र इस प्रकार बनाया जाय कि एक समय कक्षा में एक ही अध्यापक का कार्य हो। अतः जब एक कक्षा में अध्यापक पढ़ाता हो तो उस समय दूसरी कक्षा के विद्यार्थी अभ्यास के प्रश्न लगायें अथवा अन्य कोई प्रयोगिक कार्य करें। इसमें कक्षा का प्रीफेक्ट भी सहायक होता है। अतः अध्यापक की अनुपस्थिति

में प्रीफेक्ट कक्षा-प्रबन्ध को देखता है और अनुशासन को बनाये रखता है। बहुधा विद्यार्थियों को शब्दार्थ को कठिनाई होती है और वे अध्यापक के पास दौड़े आते हैं। इसके लिए अध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों को शब्दकोश देखने का तरीका बता दे और कक्षा में एक शब्दकोश रख दे जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर विद्यार्थी शब्दार्थ देख सकें। इस प्रकार सम्मिलित कक्षाओं का प्रबन्ध किया जा सकता है।

धारा १८०—

यदि एक छात्र एक स्कूल को छोड़कर उसी स्थान के दूसरे स्कूल में भर्ती होने के लिए जाय, तो उसकी भर्ती बिना डिप्टी इंस्पेक्टर की अनुमति के नहीं होगी।

धारा १८१—

जब कोई छात्र भर्ती होने के लिए आए तो वह एक महीने की फीस पेशगी लावे और यदि उसे दोबारा भर्ती होना है तो उसे भर्ती होने की फीस और बकाया फ़ीस आदि भी जमा करना होगा।.........पाठशाला में किसी ऐसे छात्र को शिक्षा नहीं दी जायगी जिसका कि नाम नहीं लिखा गया है।

धारा १८२—

यदि कोई छात्र स्वीकृत पाठ्य पुस्तकों और लेखन सामग्री आदि को कहने पर भी नहीं लाता तो उसका नाम काट दिया जायगा।

धारा १९६—

(अ) यदि कोई छात्र किसी कक्षा में लगातार तीन वर्ष तक अनुत्तीर्ण होता है तो उसका नाम काट दिया जायगा।

(ब) प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह जिला इंसपेक्टर के निरीक्षण के लिए उन छात्रों की एक सूची बनाए जो पढ़ने में कमजोर हैं और जो आगे की कक्षा में नहीं भेजे जा सकते।

(स) निरीक्षण के समय जिला इंसपेक्टर इस सूची के सम्बन्ध में प्रधानाध्यापक से बातचीत करेगा और छात्रों की प्रगति के लिए उचित व्यवस्था करेगा।

(द) डिप्टी इंसपेक्टर निरीक्षण के समय यह भी देखेगा कि विद्यार्थियों में पिछली कक्षाओं की योग्यता आ गई है या नहीं।

धारा १९७—

स्कूल के प्रधानाध्यापक को निम्नलिखित रजिस्टर रखने चाहिए :—

(अ) भर्ती का रजिस्टर (आ) हाज़िरी और फ़ीस का रजिस्टर (इ) निरीक्षण का रजिस्टर (ई) 'लाग बुक' (उ) पाठशाला छोड़ने के सर्टीफिकेट का रजिस्टर (ऊ) विद्यार्थियों द्वारा दिए गये सर्टीफिकेट रखने का रजिस्टर (ए) सरक्युलर और सामान आदि की सूची रखने के लिए फाइल बुक। (ऐ) पत्र-व्यवहार का रजिस्टर (ओ) भर्ती के पत्र रखने की फाइल।

एजूकेशनल कोड की इन धाराओं के अनुसार पाठशाला-प्रबन्ध की ओर ध्यान देना चाहिए।

जिला बोर्ड के शिक्षा-नियम

जिला बोर्ड और म्युनिसिपल बोर्ड के रूप में जनता को अपने हित की बातों को करने का अवसर मिलता है। इस सम्बन्ध में जिला बोर्ड को शिक्षा का भी प्रबन्ध करना होता है। अतः इसके लिए कुछ नियम बनाये गये हैं। जिला बोर्ड के शिक्षा सम्बन्धी जो आवश्यक नियम हैं वे इस प्रकार हैं:—

डिप्टी इंसपेक्टर के अधिकार—

(१) धारा १० (२) (क) बोर्ड की स्वीकृति पर, बिना प्रार्थना-पत्र दिए अनुपस्थित रहनेवाले अथवा किसी बड़े अपराध के दोषी अध्यापक को मुअत्तल करना।

(ख) अपने अन्तर्गत कार्य करनेवाले अध्यापक को वर्ष में दस दिन की आकस्मिक, एक महीने की विशेष (प्रिवलेज) और बिना वेतन के तीन महीने की छुट्टियाँ देना।

(ग) बीमारी की छुट्टी (मेडिकल लीव) की मंजूरी की आशा में किसी अध्यापक को अनुपस्थित रहने की आज्ञा देना।

(घ) उपर्युक्त नियमानुसार अनुपस्थित अध्यापक के कार्य का स्थायी प्रबन्ध करना।

(३) दस रुपये तक 'कंटिनजेन्सी' के मद से ख़र्च मंजूर करना।

(क) संक्रामक रोग फैल जाने पर एक महीने के लिए पाठशाला बंद कर देना।

सब-डिप्टी इंसपेक्टर के अधिकार—

(क) बिना प्रार्थना-पत्र के अनुपस्थित तथा किसी बड़े अपराध के दोषी अध्यापक को मुअत्तल करना।

(ख) अपने अन्तर्गत अध्यापक को दस दिन की आकस्मिक छुट्टी प्रदान करना।

(ग) पंद्रह दिन की बिना वेतन की छुट्टी मंजूर करना और अनुपस्थित अध्यापक के स्थान पर अस्थायी प्रबन्ध करना।

(४) (क) पाँच रुपये तक कंटिनजेन्सी के मद से खर्च मंजूर करना।

(ख) संक्रामक रोग फैलने पर दस दिन के लिए पाठशाला बंद करना।

(ग) पाठशाला के टूटे-फूटे सामान को रद्द करना और नीलाम करके बेंच देना।

शिक्षालय में निवास—धारा १९—

यथासंभव जिला बोर्ड द्वारा प्राइमरी स्कूलों के प्रधानाध्यापक को शिक्षालय के समीप स्थान पर बिना किराए के निवास का प्रबन्ध किया जायगा। निवास-स्थान के प्रबन्ध होने पर उसे वहाँ रहने के लिए बाध्य किया जायगा। यदि प्रधानाध्यापक उस गाँव का निवासी है जिसमें कि शिक्षालय है तो प्रथम सहायक अध्यापक को यह निवास-स्थान दिया जायगा।

यात्रा-व्यय—धारा २०—

बोर्ड द्वारा बदली होने या बुलाए जाने पर अध्यापक को तृतीय श्रेणी का सफ़र-खर्च मिलेगा। जब बदली अध्यापक की इच्छा पर होती है, तब उसे यह खर्च नहीं मिलता। बदली होने पर एक सप्ताह का समय नये स्थान पर पहुँचने के लिए दिया जायगा।

धारा २१—

यदि संक्रामक रोग के कारण पाठशाला बंद हो जाय और अध्यापक बोर्ड द्वारा किसी अन्य कार्य में न लगाये जा सकें तो वह पूरे वेतन का अधिकारी होगा।

अध्यापकों की संख्या—धारा २३—

मिडिल स्कूलों में एक प्रधानाध्यापक तथा कम से कम दो

सहायक अध्यापक नियुक्त किए जायेंगे। यदि किसी कक्षा में पैंतीस से अधिक छात्र हों तो उस कक्षा के लिए एक अध्यापक और नियुक्त किया जायगा।

(क) यदि पाठशाला में औसतन ३० विद्यार्थी हों तो एक अध्यापक, (ख) ३१ से ६० तक हों तो दो अध्यापक, (ग) ६१ से ९० तीन अध्यापक और तीस छात्रों की वृद्धि पर एक अध्यापक नियुक्त होना चाहिए। (घ) छात्रों की संख्या कम होने पर उसी प्रकार अध्यापकों की संख्या भी कम हो जायगी।

छात्रावास—धारा ४२—

मिडिल स्कूल के छात्रावास के प्रबन्ध, सफाई, शासन, संगठन आदि का उत्तरदायित्व प्रधानाध्यापक पर है। यदि वह कोई निरीक्षक भी नियुक्त कर दे तो भी उत्तरदायित्व उसीका होगा। छात्रावास संबंधी सभी पत्र-व्यवहार प्रधानाध्यापक करेगा। अपनी इच्छानुसार वह निरीक्षण-कार्य में सहायता के लिए छात्राधिकारी (मानीटर) नियुक्त करेगा। बिना उसकी आज्ञा के कोई छात्रावास में भर्ती नहीं किया जा सकता और न किसी प्रकार का दंड दिया जा सकता है। यदि कोई छात्र दुर्व्यवहार करता है तो उसे वह छात्रावास से निकाल सकता है। इसकी सूचना छात्र के संरक्षक और बोर्ड के अध्यक्ष को दे देनी चाहिए।

धारा ४३—

निरीक्षक को छात्रावास में रहना होगा। यदि वह सहायक अध्यापक हो तो बिना प्रधानाध्यापक की अनुमति के छात्रावास से बाहर नहीं जा सकता। इस कार्य के लिए निरीक्षक को पाँच रुपये प्रतिमास भत्ता दिया जायगा, जिसे पाने का वह छुट्टियों में भी अधिकारी होगा। उसे छात्रों की भर्ती और उपस्थिति का ब्योरा रखना होगा।

शिक्षालय की स्वच्छता—धारा ६१--

पाठशाला के आसपास की स्वच्छता का उत्तरदायित्व प्रधानाध्यापक और सहायक अध्यापकों पर होगा। स्वच्छता में कमी होने पर चेतावनी और दंड की व्यवस्था होगी।

धारा ६३—

भयंकर संक्रामक रोग जब पाठशाला के आसपास में फैलने लगे तो प्रधानाध्यापक को यह अधिकार होगा कि वह पाठशाला बंद कर दे, और इसकी सूचना बोर्ड को दे दे। जो विद्यार्थी संक्रामक रोग से पीड़ित हों उन्हें छुट्टी दे देनी चाहिए।

धार्मिक शिक्षा—धारा ६६—

शिक्षालय में धार्मिक शिक्षा की अनुमति उसी दशा में मिल सकती है, जब कि—

(क) धर्म-शिक्षक की नियुक्ति शिक्षालय-समिति अथवा छात्रों के संरक्षकों द्वारा की गई हो और उसका वेतन भी इनके द्वारा दिया जाता हो।

(ख) शिक्षालय के अन्य अध्यापकों का धार्मिक शिक्षा से कोई सम्बन्ध न हो।

(ग) छात्रों की उपस्थिति अनिवार्य न हो और वे अपने संरक्षकों की आज्ञा ही से धार्मिक शिक्षा पाते हों।

(घ) धार्मिक-शिक्षा का कार्य स्कूल के समय के बाद हो।

(ङ) धार्मिक-शिक्षा इस प्रकार प्रदान की जाय कि सांप्रदायिकता और विषमता न उत्पन्न हो।

जिला बोर्ड के शिक्षा-सम्बन्धी इन नियमों की ओर आवश्यक ध्यान देना, जिला बोर्ड के अध्यापकों के लिए वांछनीय है।

अनिवार्य-शिक्षा

पंद्रह अगस्त सन् १९४७ को हिन्द में स्वतंत्रता आई और उसी के साथ शिक्षा की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाने लगा। इसी के फलस्वरूप युक्तप्रांत की सरकार ने भी शिक्षा की योजना बनाई। इस योजना के कई रूप हैं। शिक्षा सबके लिए अनिवार्य है, इस दृष्टि से युक्तप्रांतीय सरकार ने श्री रामेश्वर सहाय सिंह को अनिवार्य-शिक्षा के संचालन का कार्य सौंपा। श्री रामेश्वर सहाय सिंह ने 'शिक्षा' के जुलाई सन् अड़तालीस के अंक में अनिवार्य शिक्षा पर प्रकाश डाला है। यह लेख एक अधिकारी व्यक्ति द्वारा लिखा गया है और अत्यन्त प्रामाणिक है। इसलिए उस लेख के प्रधान अंशों को यहाँ दे देना आवश्यक है:--

अनिवार्य शिक्षा ऐक्ट—

संयुक्त प्रांतीय अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा ऐक्ट, सन् १९१९ में पास हुआ था। जिस उद्देश्य से यह ऐक्ट बनाया गया था, उसकी पूर्ति नहीं के बराबर है। यदि यही प्रगति रही तो अगले तीस वर्ष में भी प्रांत में शायद ही अनिवार्य शिक्षा सफल हो सके। सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार इस प्रांत में प्राथमिक शिक्षा पाने योग्य बालकों की संख्या २, ८८, ६०, २१४ है। परन्तु वास्तव में कुल १२, ८७, ३५७ बालक ही स्कूलों में शिक्षा पा रहे हैं।

यह कहना अनुचित न होगा कि सरकार की नीति इस संबंध में किंचित उपेक्षापूर्ण रही है। ऐक्ट के अनुसार जब सरकार को कुल खर्च का $\frac{2}{3}$ भाग और बोर्ड को $\frac{1}{3}$ भाग देना चाहिए तब सरकार केवल $\frac{1}{3}$ भाग ही खर्च कर रही है। एक दो उदाहरणों से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जायगी। ऐक्ट के

अनुसार चपरासी का वेतन साढ़े दस रुपये निश्चित है, लेकिन तीस रुपये से कम में चपरासी नहीं मिलते। इसी प्रकार पाठशाला भवन के किराये और अध्यापकों के वेतन में भी वृद्धि हुई है। इन सब का कारण यह है कि ऐक्ट दोषपूर्ण है और इसका सुधार किए बिना शिक्षा का समुचित एवं शीघ्र प्रसार संभव नहीं है।

म्युनिसिपेलटीज़ ऐक्ट—

म्युनिसिपेलटीज़ ऐक्ट सन् १९१६ के अनुसार म्युनिसिपल बोर्ड को अपनी आय का पाँच प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करना चाहिए। इस आय की गणना सरकारी सहायता के अतिरिक्त की जाती है। परन्तु इस ओर भी शिक्षा की बढ़ती हुई माँग का ख्याल रखते हुए कभी कार्य नहीं किया गया। सरकार ने भी कभी यह चिन्ता नहीं की कि जनता की शिक्षा प्रसार की बढ़ती माँग को किस प्रकार पूर्ण किया जाय। सरकार ने इस अतिरिक्त व्यय पर कोई आर्थिक सहायता नहीं दी। यही कारण है कि अभी तक इस ओर नगण्य प्रगति हुई है।

ऐक्ट में प्रस्तावित परिवर्तन—

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की योजना को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक जान पड़ता है कि नगरों की सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था सरकार अपने हाथ में ले। इसके व्यय का भार भी वह अपने ऊपर ले और बोर्ड की आय का दस प्रतिशत उससे स्वयं वसूल करे। यह आनुमानिक व्यय संभवतः तीन चौथाई से अधिक नहीं पड़ेगा। इसी व्यय से शिक्षा कार्य दक्षता से संचालित होगा और तभी प्रगति अच्छी और सफल हो सकेगी।

छात्रों की अनुपस्थिति—

अनिवार्य शिक्षा योजना की सफलता में दूसरी सबसे बड़ी

बाधा जो घातक कही जा सकती है वह है छात्रों की अनुपस्थिति की समस्या। जो छात्र पाठशाला में उपस्थित नहीं होते तथा जिन्हें उनके संरक्षक किसी कारण से शिक्षार्थ नहीं भेजते उनपर मुकदमा चलाया जाता है। यह प्रणाली इतनी दोषपूर्ण है कि कई मास चालान करने में लग जाते हैं और अन्त में अदालत से चार आने या आठ आने जुरमाना हो जाता है। इसका प्रभाव यह होता है कि जब तक मुकदमें का फैसला नहीं हो जाता तब तक छात्र पाठशाला में अनुपस्थित रहता है। यदि मुकदमा दो मास भी चले, जैसा कि अधिकतर होता है, तो दस रुपये इसकी पैरवी में व्यय होते हैं और केवल आठ आने जुरमाने में मिलते हैं। इस त्रुटि के कारण न केवल बालकों की शिक्षा की वरन् आर्थिक हानि भी होती है। अतः इस दोष को दूर करने के लिए मुकदमें का फैसला करने का अधिकार म्युनिसिपल बोर्ड के शिक्षाध्यक्ष तथा शिक्षा-विभाग के डिप्टी इंसपेक्टर को दिया जाना चाहिए। ऐसा करने से मुकदमें का फैसला तुरन्त हो जायगा और ऐक्ट का यह अभिप्राय कि छात्र पाठशाला में अनुपस्थित न रहें, पूर्ण हो जायगा। इसके साथ ही मुकदमें के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने और फैसला करने का अधिकार शिक्षा-विभाग के ज़िला इंसपेक्टर को दिया जा सकता है।

मकतब और पाठशाला—

मकतब और पाठशाला में पढ़नेवाले छात्रों को छुटकारा (exemption) न दिया जाय। केवल उन्हीं पाठशालाओं और मकतबों को अध्यापन कार्य करने दिया जाय जिनमें प्राइमरी कक्षाओं का पाठ्यक्रम कार्यान्वित होता हो। बहुधा देखा जाता है कि जो मकतब खोले गये हैं उनमें अधिकांश समय धार्मिक शिक्षा दी जाती है और केवल नाममात्र को प्राइमरी पाठ्यक्रम कार्यान्वित

होता है। ऐसी दशा में इनमें पढ़नेवाले सभी छात्रों की शिक्षा की हानि होती है। अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रांत के सभी स्कूलों में एक ही प्रकार का पाठ्यक्रम कार्यान्वित किया जाय।

ग़रीबी मुख्य बाधा—

अनिवार्य शिक्षा में गरीबी मुख्य बाधा है। अतः निर्धन छात्रों के लिए विभिन्न समय की पाठशालाओं की व्यवस्था होनी चाहिए। अभी एक निश्चित समय पर सभी पाठशालाएँ लगती हैं और इसका कोई ध्यान नहीं रखा जाता है कि पाठशाला का समय प्रत्येक स्थिति के बालकों के लिए सुविधाजनक हो। इसलिए अधिक बालक अनुपस्थित होते हैं। यह भी देखा गया है कि ६-११ वर्ष की आयु के बालक अपने निर्धन संरक्षकों के जीविकोपार्जन में सहायक होते हैं। ऐसे बालकों का चालान अन्यायपूर्ण और अमानुषिक है। उन्हें इसकी सुविधा दी जानी चाहिए कि वे अवकाश के समय पाठशाला जाकर पाठ्यक्रम पूरा कर सकें। अतएव कुछ पाठशालायें तीन शिफ्टों में लगाई जाँय तो प्रत्येक बालक को पाठशाला जाने में सुविधा होगी। इनका समय प्रातःकाल, दोपहर और रात में भी रखा जाय। इस प्रकार बालक बगैर अपने संरक्षक की आमदनी में कमी किये पाठशाला में आ सकेंगे।

निर्धन बालकों को पाठ्य-सामग्री—

अनिवार्य शिक्षा की सफलता के लिए निर्धन बालकों को पुस्तक तथा अन्य पाठ्यसामग्री मुफ्त दी जाय। यद्यपि ऐक्ट में इसकी व्यवस्था है, परन्तु वह नितान्त अपूर्ण है। इस अपूर्ण व्यवस्था से बालकों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। जो धन इस कार्य के लिए सुरक्षित किया गया है वह बहुत कम है और आज बढ़ती हुई सभी वस्तुओं की कीमत को दृष्टि में रखने

से यही निष्कर्ष निकलता है कि अनुदान (ग्रान्ट) की रकम को बढ़ाया जाय।

राज्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि वह देश के बालकों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करे। किसी भी शासन व्यवस्था में शिक्षा को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता रहा है और शासन का सदैव यह ध्येय रहा है कि देश की शिक्षा व्यवस्था ऊँचे से ऊँचे ढंग की हो। यही प्रत्येक राष्ट्र की उन्नति की आधार-शिला है। इसीलिए जुलाई सन् ४८ से युक्तप्रांत की समस्त म्युनिसिपेलटियों में अनिवार्य शिक्षा लागू करने का निश्चय किया गया है और ६ वर्ष से ११ वर्ष तक की आयु के बालकों के लिए शिक्षा अनिवार्य कर दी गई है। साथ ही नई शिक्षा की योजना के अनुसार हिन्दुस्तानी और एंग्लो हिन्दुस्तानी स्कूलों के भेदभाव को मिटाकर एक ही पाठ्यक्रम निर्दिष्ट कर दिया गया है। ऐसी दशा में प्राइमरी कक्षाओं में एक ही पाठ्यक्रम रहेगा एवं अनिवार्य शिक्षा लागू होने के कारण सभी वर्गों के बालक एक साथ शिक्षा पायेंगे।

सह-शिक्षा—

पाठशालाओं में सह-शिक्षा की व्यवस्था कर देने से कितनी ही समस्याओं का हल अपने आप हो जायगा। आज की स्थिति को देखते हुए यह आवश्यक है कि छोटी अवस्था के बालक और बालिकाएँ एक साथ पढ़ें। एक साथ रहने में अप्रत्यक्ष रूप से वे न केवल शिक्षा समस्याओं को सरल करने में योग प्रदान करेंगे बल्कि उससे एक नई विचारधारा उत्पन्न होगी जिससे आगे चलकर उनके मानसिक विकास में सहायता मिलेगी और दैनिक जीवन सरल और समस्याओं से विहीन होगा। इस व्यवस्था को सफलता से लागू करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि

पाठशालाओं में कम से कम एक महिला अध्यापन कार्य करे। इससे छोटे बच्चों को स्कूल के प्रति रुचि एवं आकर्षण बढ़ेगा तथा शासन को भी शिक्षा प्रसार कार्य में सुविधायें होंगी। एक ही प्रकार की पाठशालाओं से काम चल सकेगा और बालिकाओं के लिए पृथक् प्रबन्ध की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसका फल यह होगा कि नये स्कूल कम खोलने पड़ेंगे तथा पाठशाला भवन भी कम ही बनवाने की आवश्यकता होगी। व्यय में भी किफायत होगी और अनेक प्रकार की अन्य कठिनाइयाँ भी सरल हो जायँगी।

स्थिरता—

पाठशालाओं में स्थिरता एक भयानक समस्या है। प्राइमरी शिक्षा की सबसे बड़ी कमी सदैव यही रही है। अध्यापक तथा निरीक्षक अफसरों के होते हुए भी इसका अभी प्रतिकार नहीं हो सका। यह तो प्राथमिक शिक्षा-वृक्ष के जड़ में लगे हुए उन घातक कीटाणुओं के समान हैं जो वृक्ष को पल्लव विहीन कर देते हैं और कभी पनपने नहीं देते। प्रथम कक्षा में जितने बालक भर्ती होते हैं उनकी संख्या नगण्य हो जाती है और बहुत संख्या में इसी कक्षा से आगे बालक नहीं बढ़ पाते हैं। उसी कक्षा में वे तीन-चार वर्ष पड़े रहते हैं और वहीं उनकी वह अवस्था पूरी हो जाती है जिसमें उन पर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कानून लागू हो सके। इस प्रकार सारा का सारा व्यय बिल्कुल व्यर्थ होता है। निपुणता तथा साक्षरता में कोई प्रगति नहीं होती। यदि कोई बालक एक ही कक्षा में एक वर्ष से अधिक रहे तो यह कहा जायगा कि वह उस कक्षा में अवधि से अधिक रह चुका है। इसको उर्दू में 'जायद मुद्दत' कहते हैं। यही स्थिरता (Stagnation) है। इससे प्रतिवर्ष बहुत बड़ी आर्थिक हानि

होती है। यह प्राथमिक शिक्षा का कलंक है। स्थिरता राष्ट्र के भावी नागरिकों को सत् नागरिक नहीं बनने देती। वे निरक्षर रह जाते हैं और उसके समस्त अभिशापों को जीवन पर्यन्त भोग कर अपनी संतान के लिए भी घातक परम्परा छोड़ जाते हैं। शिक्षा-विभाग की रिपार्ट के आँकड़ों से पता चलता है कि किसी किसी वर्ष ९० प्रतिशत से भी अधिक हानि होती है और यह स्थिरता का ही परिणाम है।

अनियमित उपस्थिति—

स्थिरता का एक कारण कक्षा में बालकों की अनियमित उपस्थिति भी है। अनिवार्य शिक्षा क्षेत्रों में सहायक उपस्थिति निरीक्षकों और अध्यापकों का बालकों की पाठशाला में उपस्थिति विषयक सम्मिलित उत्तरदायित्व भी इसके लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है। अतएव यह सारी जिम्मेदारी केवल सहायक उपस्थिति निरीक्षक पर ही डालनी चाहिए। वे ही बालकों की उपस्थिति की पूर्ण व्यवस्था करें और अध्यापकों के लिए केवल अध्यापन कार्य ही रखा जाय। यदि बालकों की उपस्थिति की निश्चित संख्या में कमी होती है तो सहायक उपस्थिति निरीक्षक का उत्तरदायित्व होगा।

स्थिरता का विनाश—

स्थिरता का विनाश करने के लिए यह भी आवश्यक है कि सामूहिक रूप से शिक्षा देने की प्रणाली में भी कुछ परिवर्तन किया जाय। अभी तक प्राथमिक स्कूलों में जो प्रणाली प्रचलित है वह दोषपूर्ण है। प्राय: यह देखा जाता है कि अध्यापक यह कहते हैं कि अमुक कक्षा के बालक कच्ची तरक्की पाकर आए हैं इसलिए वे कमजोर हैं। इस प्रकार वे एक-दूसरे पर जिम्मेदारी

टालते हैं। इसे रोकने के लिए यह आवश्यक है कि कक्षा एक में जो अध्यापक काम करे वही एक वर्ष बाद बालकों के कक्षा दो में जाने पर भी पढ़ावे। इसी प्रकार वह अध्यापक उन्हीं बालकों के साथ कक्षा पाँच तक जाय और फिर जब वे बालक कक्षा पाँच पास करके चले जाँय तो वह अध्यापक पुनः कक्षा एक में आ जाय। इस प्रकार की प्रणाली से यह लाभ होगा कि अध्यापक अपना उत्तरदायित्व अनुभव करेंगे।

शिक्षा की पंचवर्षीय योजना

संयुक्त प्रांत में बेसिक शिक्षा के प्रसार के लिए शिक्षा की एक योजना बनाई गई है जो पाँच वर्षों में पूरी होगी। इस योजना को श्री कैलासनारायण मालवीय विशेष अफसर कार्यान्वित कर रहे हैं। आपने 'शिक्षा' जुलाई ४८ के अंक में इस योजना पर अच्छा प्रकाश डाला है। अतः आपके प्रमुख विचारों को उपयोगिता और महत्त्व की दृष्टि से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है:—

योजना का लक्ष्य—

इस योजना का लक्ष्य यह है कि अल्पतम समय में ६ से ११ वर्ष तक की आयु वाले बालकों के लिए सार्वजनीन, निःशुल्क और अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय। एक ऐसे प्रांत में जहाँ लगभग नब्बे प्रतिशत जनता अब भी निरक्षर है यह बड़ी जटिल समस्या है।

प्रांत के ग्राम्य प्रदेश में अनुमानतः ६ से ११ वर्ष तक की वय के ५८ लाख बालक हैं, जिनमें से लगभग १५ लाख वर्तमान पाठशालाओं में शिक्षा पा रहे हैं। इस प्रकार अनिवार्य शिक्षा के प्रचलित करने के पूर्व ४३ लाख बच्चों की शिक्षा के लिए आयोजन करना आवश्यक है।

प्रति सौ छात्रों के लिए एक पाठशाला के हिसाब से ४३००० नवीन पाठशालाओं की आवश्यकता है। इन पाठशालाओं में तीन अथवा तीन से अधिक अध्यापक होंगे और इनसे लगभग एक हजार जन-संख्या वाले एक ग्राम अथवा ग्राम-समूह का काम चल सकेगा। इस संख्या को लक्ष्य मान लिया गया है।

शिक्षालयों की स्थिति—

इस योजना के अनुसार बननेवाले शिक्षालयों के लिए उपयुक्त स्थान का चुनाव प्रत्येक जिले की एक कमेटी को सौंपा गया है जिसका सभापति ज़िलाधीश (कलेक्टर) है। ज़िले में युक्त-प्रांतीय असेम्बली के सदस्य, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और एजुकेशन कमेटी के अध्यक्ष और जिला स्वास्थ्य के मेडिकल अफसर उसके सदस्य हैं और स्कूलों के डिप्टी इन्सपेक्टर उसके मंत्री हैं। यह कमेटी इस बात का निर्णय करेगी कि अग्रिम पाँच वर्षों में किन स्थानों में नये स्कूल खोले जाँय जिससे ज़िले में कहीं पर नये स्कूल की आवश्यकता न रहे और पाँच वर्ष के अंत में अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा के चालू करने में किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित न हो। जुलाई सन् १९४७ से संचालित पहली चालीस पाठशालाओं के निर्वाचन में सर्वप्रथम अवसर उन ग्रामों को दिया गया जहाँ लगभग एक बीघा ज़मीन पाठशाला के लिए दान के रूप में मिली और गाँव वालों ने यह आश्वासन दिया कि निर्धारित रूपरेखा के अनुसार केवल एक हजार रुपये की सरकारी सहायता से शिक्षालय भवन का निर्माण कर दिया जायगा।

शिक्षालय-भवन—

इस प्रकार बननेवाले भवन में दो या तीन कमरे, एक बरामदा, एक भंडार गृह, पक्का फर्श, कच्ची दीवारें तथा एस्बेस्टस अथवा खपरैल की छत होनी चाहिए। यह अनुमान किया गया है कि निर्माण-मूल्य लगभग दो हजार रु० होगा। गाँव वालों से यह आशा की जाती है कि वे द्रव्य अथवा सामग्री द्वारा सहायता करेंगे और एक हजार रुपये की सरकारी सहायता से भवन का निर्माण करा देंगे। प्रत्येक पाठशाला में एक छोटा पुस्तकालय, सम्बद्ध अखाड़ा और एक उद्यान होगा।

सामग्री—

इन पाठशालाओं में बालक तथा बालिकायें फर्श पर बिछी हुई टाट-पट्टियों पर बैठते हैं और शिक्षक के लिए एक कुर्सी तथा मेज का प्रबन्ध होता है। सामग्री-सम्बन्धी अन्य वस्तुएँ जैसे एक बाल्टी, लोहे का एक गगरा, पीतल का एक लोटा, एक बड़ी संदूक, एक श्यामपट, चार ताले, घंटी तथा हथौड़ी, दीवार पर लटकाने वाले मानचित्र इत्यादि सामान के लिए पहिले वर्ष सौ रुपये और बाद के दो वर्षों में पचास पचास रुपये दिये जाँय। इस प्रकार सामग्री की व्यवस्था हो जाती है।

अध्यापक—

इन पाठशालाओं के लिए ट्रेंड अध्यापक मिलने में कठिनाई है। इसलिए मिडिल पास व्यक्तियों को अध्यापक नियुक्त किया जाय। साथ ही यह व्यवस्था भी की गई कि पाठशालाओं के नये अध्यापकों को उन्हीं के स्थान पर शिक्षण-कला और शिक्षा-सिद्धान्त को सिखाया जाय। इसलिए सचल-शिक्षक दल की योजना चालू की गई है।

युक्तप्रांत में बेसिक शिक्षा-प्रसार की पंचवर्षीय योजना का कार्य सुचारु रूप से चल रहा है। इसकी सफलता देश के हित के लिए आवश्यक है।

सचल-शिक्षक दल

सचल-शिक्षक दल की योजना हमारे देश की शिक्षा में एक नवीन प्रयोग है। माननीय श्री सम्पूर्णानन्द ने इस योजना की रूपरेखा बनाई है। इसका आधार मेक्सिको देश के सचल-शिक्षक दल हैं जिनकी स्थापना सन् १९२१ में हुई थी। अतः बेसिक शिक्षा प्रसार की पंचवर्षीय योजना में ट्रेंड अध्यापकों की आवश्यकताओं की पूर्ति में सचल-शिक्षक दल से सहायता मिली। इस सम्बन्ध में भी पंडित कैलासनारायण मालवीय ने 'शिक्षा' के अक्टूबर सन् अड़तालीस के अंक में एक लेख लिखा है। सचल-शिक्षक दल के सम्बन्ध में आधिकारिक विचार उपस्थित करने की दृष्टि से इस लेख के आवश्यक अंश प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

तीन उद्देश्य—

सचल शिक्षक दल के तीन मुख्य उद्देश्य हैं:—पहला व्यावहारिक (टेकनिकल) है। अर्थात् गाँव के प्रारम्भिक राजकीय पाठशालाओं के अदीक्षित (अन्ट्रेंड) अध्यापकों को नवीन शिक्षा-विधि में दीक्षित करना। दूसरा सांस्कृतिक है। हम चाहते हैं कि हमारे ये अध्यापक गाँव की जनता में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना का संचार करें। वे स्वयं इस सांस्कृतिक पुनरुत्थान के कार्य का माध्यम बन कर उनके सामने आवें और इस प्रकार उन्हें स्पष्टतः सक्रिय रूप से इस ओर प्रेरित करें। हमारा तीसरा उद्देश्य है गाँव वालों के साधारण ज्ञान-कोष की वृद्धि। गाँव के लोग गरीब, पिछड़े हुए और निरक्षर हैं। फलतः उनमें नाना प्रकार की बुराइयाँ आ गई हैं। वे भूत-प्रेत में विश्वास रखते हैं, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों

मे नितान्त अपरिचित हैं, भलाई करनेवालों पर भी संदेह करते हैं और किसी भी प्रकार के परिवर्तन को संदेह और घृणा की दृष्टि से देखते हैं। हमें उनमें विज्ञान का प्रकाश फैलाना है, उन्हें चिकित्साशास्त्र के नवीन प्रयोगों से परिचित कराना है, सफाई और स्वास्थ्य के वैज्ञानिक नियम बतलाने हैं और उनकी संदेह-शीलता को दूर करके उनमें सहयोग की भावना उत्पन्न करनी है। बिना साक्षर हुए वे शायद यह सब कुछ न कर सकें। इसलिए इस बात पर जोर दिया गया कि ये दल प्रौढ़-शिक्षा-योजना में भी सहयोग दें और प्रौढ़ों को शिक्षित बनाने की नवीनतम शिक्षा-विधियों से परिचित रहें।

सांस्कृतिक कार्य—

यह कार्य सबसे कठिन है। जिस प्रकार की शिक्षा-विधि के वातावरण में पहिले के अध्यापक पले हैं, उसमें संगीत, नृत्य, खेलकूद और अभिनय का नाम न था। इसलिए ऐसे ही व्यक्तियों को चुने जिनकी इस ओर विशेष रुचि हो। हमारी दूसरी कठिनाई गाँव वालों को आकर्षित करने की है। अशिक्षा, आर्थिक दरिद्रता और एक ऐसी संस्कृति के संघर्ष के कारण जो उनकी संस्कृति के इन तत्वों की उपेक्षा करती है ये गाँव वाले अपनी संस्कृति के श्रेष्ठ अंगों को भूल से गये हैं और उनको हेय समझने लगे हैं। हम गुजरात, बंगाल आदि अपने पड़ोसी प्रांतों की अपेक्षा लोकगती, लोक नृत्य, लोक अभिनय आदि की दृष्टि से किंचित् पिछड़े हुए हैं। लोक नृत्य के नाम पर हमारे यहाँ अहीर, धोबी, कहार और चमार के वे नृत्य बच गये हैं जो सर्वथा शृंगार प्रधान हैं। उनमें आज भी जीवन और गति है तथा ताल और साथ की सरलता है। परन्तु घोर शृंगारिकता का बहिष्कार कर उनका सुधार कैसे करें यह हमारी समस्या है। ये नृत्य हमारे

ग्रामीण वातावरण के अनुकूल हैं। अतः जीवन गति, ताल और लय की रक्षा करते हुए उन्हें समय के अनुकूल बना लेना हमारे लिए आवश्यक है। लोक अभिनय के नाम पर होनेवाले गाँवों में अच्छे स्वांग और नौटंकी बच गये हैं। उनके स्थान पर हमें जनता में स्वस्थ अभिनय का प्रचार करना है जिनसे उनका स्वस्थ मनो-रंजन हो। इस प्रकार के अभिनय के विषय वही होंगे जो ग्रामीणों को प्रिय हों और जिनका सम्बन्ध उनकी संस्कृति से हो तथा जिनसे उनके ज्ञान की वृद्धि हो। उनकी कमजोरियों के प्रदर्शन के लिए हमने सामाजिक प्रहसनों को अपनाया है जो उन्हीं की बोली में हैं। हमारे पास समय बहुत कम है इसीलिए हमने छायाचित्र और मूक अभिनय की शैलियों को अपनाया है।

लोकगीत—

लोकगीत की ओर से भी हम विमुख नहीं हैं। बिरहा, कजरी, कहरवा, कीर्तन, भजन आदि हमारे लोकप्रिय गीत हैं। चिरकाल से वे ग्रामीण जनता का मनोरंजन करते आए हैं और चिरकाल से ग्रामीण जनता उनके माध्यम से अपने विचारों को प्रगट करती आई है। लोकगीत ग्राम्य संस्कृति के अंग हैं। इसलिए इन्हें भी अपनाया गया है। हमारी चेष्टा है कि हम उनमें (लोकगीतों में) नवीन विषयों का संचार करें और उनके ताल-लय की रक्षा करते हुए श्रृंगारिकता को निकाल कर उन्हें सामयिक बना सकें।

व्रतचारी नृत्य—

सांस्कृतिक कार्यक्रम में हमने व्रतचारी नृत्य आंदोलन को अपना लिया है। मनुष्य जीवन को सब ओर से सार्थक और पूर्ण बनाने का जो व्रत धारण करता है उसे ही व्रतचारी कहते हैं। ज्ञान, सत्य, ऐक्य, श्रम और आनन्द यही व्रतचारी के पाँच व्रत

हैं। समग्र मानव जाति का हित उसका आदर्श है। विश्व को एक संघ में बाँधने की चेष्टा उसका प्रण है। यही आज हमारे स्वतंत्र राष्ट्र का भी उद्देश्य है। इसीलिए हमने व्रतचारी नृत्य को अपना लिया है। व्रतचारी प्रण करता है--में मुक्त रहूँगा, खेलूँगा, हसूँगा, सब को प्यार करूँगा, सत्य बोलूँगा, गुरुजन का आदर करूँगा, लिखूँगा, पढ़ूँगा, हाथ से चीज बनाऊँगा, शरीर को दृढ़ बनाऊँगा, आनन्द से नाचूँगा। ये सार्वभौम आदर्श हैं। इसीलिए व्रतचारी नृत्य को स्कूलों के लिए अपनाया गया है। व्रतचारी का व्रत है कर्म और नृत्य, नृत्य को छोड़कर कार्य हो सकता है पर वह शुष्क और नीरस है। पर कर्म को छोड़कर जो नृत्य है वह विलास है। इसीलिए कर्म और नृत्य का मेल ही संसार के कल्याण का मार्ग है।

ग्राम्य-जीवन का केन्द्र--

हमारे स्कूलों को गाँव के समस्त जीवन का केन्द्र होना चाहिए। यह तब तक नहीं हो सकता जब तक कि ग्राम्य स्कूल गाँव वालों के लिए आकर्षक सिद्ध नहीं होते। हम जानते हैं कि ग्राम्य जीवन का केन्द्र के लिए समस्त ग्राम्य संस्कृति का केन्द्र तथा ग्राम्य जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाला बनना होगा। इसलिए हम गाँव वालों के जातीय त्योहारों और उत्सवों को अपने स्कूलों में मनावें, लोकनृत्य, गीत, प्रहसन, छाया अभिनय आदि का प्रदर्शन करें और जनता को उसमें भाग लेने के लिए आमंत्रित करें। इस प्रकार जहाँ स्कूलों के प्रति गाँव वालों का आकर्षण बढ़ेगा और वे पढ़ने-पढ़ाने की चेष्टा करेंगे वहाँ दूसरी ओर गाँव वालों का सांस्कृतिक स्तर भी ऊँचा होगा।

भविष्य में कार्य—

सचल शिक्षक दल के भविष्य के सम्बन्ध में मालवीयजी

लिखते हैं कि हमारा दल ग्राम्य राजकीय पाठशालाओं को गाँव की संस्कृति का केन्द्र बना देगा। हमें आशा है कि शीघ्र ही हमारे यहाँ यातायात के साधनों का विकास हो जायगा और हम अपने प्रत्येक दल को मोटर, रेडियो, चल-चित्रों के फिल्म रेकार्ड, कठ-पुतलियों के सामयिक खेल दे सकेंगे जिनसे उनका कार्य अधिक रोचक हो जाय। हमें आशा है कि हम उनके साथ सचल पुस्त-कालय भी भेज सकेंगे जिससे 'वे ज्ञान का प्रकाश फैला दें। हम चाहते हैं कि सचल शिक्षक दलों की संख्या इतनी बढ़ा दी जाय कि उसमें सब प्रकार के विशेषज्ञ अध्यापक सम्मिलित होकर ग्रामवासियों को उपयोगी शिक्षा दे सकें। वे एक ओर जहाँ लोक नृत्य, लोकगीत और लोक अभिनय के द्वारा उनका मनोरंजन करने की क्षमता रखें वहीं दूसरी ओर वे किसानों को मिट्टी का वर्गीकरण बतावें और उन्हें खाद, बीज और फसल के विषय में ज्ञान दें। वे गाँव में उन छोटे-छोटे धंधों को स्थापित करें जो कच्चे माल के लिए किसी अन्य का मुँह नहीं ताकते और वे इन उद्योग-धंधों को सिखाने में नवीनतम वैज्ञानिक प्रणालियों और सूत्रों का प्रयोग करें जिससे गाँव वाले उनका सद्यःफल देख उनकी ओर आकर्षित हों और इन्हें अपनावें। प्रत्येक सरकारी स्कूल के पास अपना खेत हो जिसमें सचल-शिक्षक दल के अध्या-पक कृषि सम्बन्धी नवीन प्रयोग करा सकें तथा रासायनिक खादों और खेती के आधुनिक यंत्रों का प्रयोग करके गाँव वालों को उनके प्रयोग के लिए उत्साहित करें। ये खेत गाँव वाले जोत दें और इससे प्राप्त रुपया इन स्कूलों पर जो जातीय शिक्षा के केन्द्र हो गये हों, व्यय हो। हम यह भी चाहते हैं कि गाँव में प्राप्त होनेवाली सामग्री से और गाँव की सहायता से ही स्कूल की ऐसी इमारत बनवायें जो साधारण होते हुए भी प्रकाश, वायु और तापक्रम की दृष्टि से गाँव वालों के लिए आदर्श हो।

मनोरंजन द्वारा शिक्षा—

प्रौढ़ साक्षरता की समस्या के सम्बन्ध में मेरी धारणा दृढ़ होती जा रही है कि शायद यह संभव नहीं है कि केवल अक्षर-ज्ञान के लिए हम सफलतापूर्वक ग्रामीण प्रौढ़ को पाठशाला में ला सकें। उसको दिन भर के कठोर परिश्रम के बाद सायंकाल में कुछ मनोरंजन की आवश्यकता होती है। यदि हम उसे सुन्दर सांस्कृतिक, ज्ञानवर्द्धक मनोरंजन संध्या समय पाठशाला में दे सकें तो वह आने लगेगा। यदि इस मनोरंजन के साथ साथ हम उसे कुछ उपयोगी ज्ञान भी दें, जिसकी उसे आवश्यकता है तो वह उसे भी ग्रहण करने लगेगा। एक उत्साही अध्यापक इस प्रकार ६ महीने में अपनी पाठशाला को ग्राम्य जीवन का केन्द्र बना सकता है। यदि ग्राम निवासी प्रौढ़ केवल मनोरंजन के लिए ही पाठशाला में आने लगे तब भी उसका सांस्कृतिक विकास के साथ साथ ज्ञानवर्द्धन भी होने लगेगा और फिर अक्षर-ज्ञान कराना कठिन न होगा।

स्वास्थ्य की आवश्यकताएँ

हमारा शरीर—

स्वास्थ्य हमारे शरीर की अच्छी दशा का द्योतक है। यदि शरीर स्वस्थ नहीं है तो व्यक्ति का स्वास्थ्य बिगड़ा हुआ माना जाता है। इस प्रकार शरीर की दशा पर स्वास्थ्य निर्भर करता है। बिना शरीर की बनावट के ज्ञान के स्वास्थ्य की देख-भाल भली-भाँति नहीं की जा सकती। इसलिए यह आवश्यक है कि स्वास्थ्य के आधार के रूप में शरीर-विज्ञान का अध्ययन किया जाय। यहाँ स्वास्थ्य के सम्बन्ध में विचार करते समय यह संभव नहीं है कि शरीर-विज्ञान की बातों की ओर ध्यान दिया जाय। इसलिए यह आवश्यक होगा कि शरीर-विज्ञान पर अन्य पुस्तकों का अध्ययन किया जाय। श्री जानकीशरण वर्मा लिखित 'सरल शरीर-विज्ञान' पुस्तक का अवलोकन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जूनियर हाईस्कूल के विद्यार्थियों के लिए शरीर-विज्ञान सम्बन्धी पाठ्य पुस्तक भी उपयोगी है। अतः उन बातों को यहाँ न देकर स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं पर विचार करना उचित है।

वायु—

शरीर को जीवित रखने के लिए सर्वप्रथम वायु की आवश्यकता होती है। बिना वायु के शरीर जीवित नहीं रह सकता। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि जीवित रहने के लिए केवल वायु की आवश्यकता है। वायु के अतिरिक्त मनुष्य को जल और भोजन की भी आवश्यकता होती है। अतः यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि वायु उन वस्तुओं में प्रधान है जिसके आधार पर शरीर जीवित रहता है।

वायु का संगठन—

यह वायु जो शरीर को जीवित रखता है, क्या है ? इसे जानने का प्रयास वैज्ञानिकों ने किया और प्रयोग द्वारा ज्ञात किया कि वायु कई गैसों का मिश्रण है। इस मिश्रण में आक्सीजन और नाइट्रोजन गैस प्रधान है। इन गैसों का अनुपात भी मालूम किया गया जो कि क्रमशः २१ प्रतिशत और ७८ प्रतिशत है। शेष एक प्रतिशत में अन्य गैसें जल तथा धूल कण हैं। वायु में पाई जानेवाली नाइट्रोजन का कार्य आक्सीजन की तीव्रता को कम करना है। यदि नाइट्रोजन न हो तो वायु की आक्सीजन से हानि पहुँचाने का कारण उसकी तीव्रता और जलाने की शक्ति है। आक्सीजन की सहायता से वायु की गंदगी दूर होती है। इस बात को समझने के लिए पहले यह देखना चाहिए कि वायु गंदी किस प्रकार होती है।

वायु की गंदगी—

वायु के गंदे होने के चार कारण हैं:--(१) साँस, आग, वस्तुओं का सड़ना और धूल। जो साँस मनुष्य तथा अन्य जीव बाहर निकालते हैं, उसके साथ फेफड़े में हुई गंदगी भी बाहर निकलती है। साँस के लेने के साथ आक्सीजन भीतर जाकर फेफड़ों की सहायता से उन वस्तुओं को नष्ट करती है जो स्वास्थ्य के लिए हानिकर हैं। इस प्रकार जो साँस बाहर निकलती है उसमें गंदगी होती है।

आग में जब कोई वस्तु जलती है तो उस समय स्वच्छ वायु की आवश्यकता होती है। स्वच्छ वायु में उपस्थित आक्सीजन की सहायता से आग जलती है और जलने पर कार्बन गैस निकलती है। यह कार्बन गैस वायु की दूसरी गंदगी है। इसी

प्रकार यदि कहीं कूड़ा-करकट सड़ता है तो उसके द्वारा भी वायु गंदी होती है। रही धूल के कणों की बात। इसे तो हम सड़क पर उड़नेवाली धूल को देखने से मालूम कर सकते हैं। धूल भरी वायु में साँस लेने से फेफड़े खराब हो जाते हैं। धूल कोई अच्छी वस्तु नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वायु इन चार कारणों से गंदी होती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से वायु की शुद्धि अपेक्षित है। इसलिए शुद्ध वायु का प्रबन्ध स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। यदि शुद्ध वायु नहीं मिलती तो सिर में दर्द, मिचली, कै, भूख की कमी और शरीर में खून की कमी हो जाती है। यदि इन बीमारियों से मुक्त होना है तो शुद्ध वायु का प्रबन्ध करना चाहिए।

शुद्ध वायु—

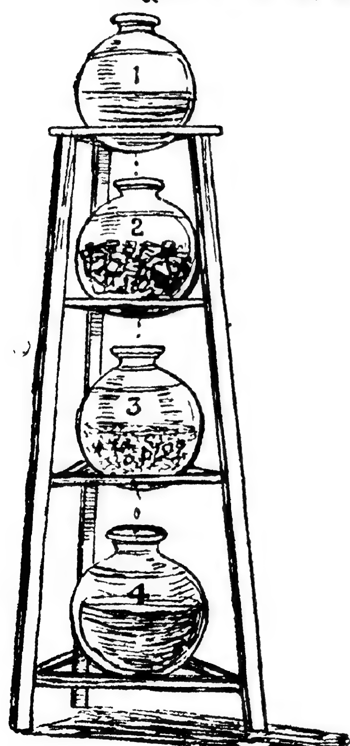
शुद्ध वायु के प्रबन्ध की दृष्टि से शिक्षालय-भवन में खिड़कियाँ और दरवाजे इस प्रकार बनाये गये हों कि हवा के आने-जाने की सुविधा हो। उत्तर-दक्षिण में खिड़की और दरवाजे रखने से शुद्ध वायु मिलती रहती है। इस प्रकार घर में भी शुद्ध वायु के लिए खिड़की और दरवाजे होने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त सोते समय चेहरे को ढँक नहीं लेना चाहिए। यदि चेहरा ढँक लिया जाता है तो नाक से बार बार उसी वायु को भीतर ले जाना पड़ता है जो गंदी होकर बाहर आ चुकी है। सोते समय शुद्ध वायु मिलती रहे, इसके लिए कमरे की खिड़कियाँ खुली रखनी चाहिए। जाड़े के मौसम में बहुधा लोग कमरे की खिड़कियाँ भी बंद कर देते हैं। ऐसा करने से शुद्ध वायु नहीं मिलती। शुद्ध वायु के लिए सबेरे टहलने जाना चाहिए। जहाँ बाग हों, वहाँ जाने से भी शुद्ध वायु मिलती है। इसलिए शिक्षालय-स्वास्थ्य की दृष्टि से शुद्ध वायु की ओर ध्यान देना चाहिए

ओर नदी बह कर जाती हो उस ओर पशुओं को नहलाने का और कपड़े धोने का स्थान हो सकता है। लेकिन जिस स्थान पर पानी भरा जाता हो उसके ऊपर नहाना-धोना मना हो।

जल शुद्ध करने के उपाय—

(१) पहला उपाय यह है कि पानी को दस मिनट तक खौलाया जाय और फिर ठंडा करके पीने के काम में लाया जाय।

(२) दूसरा उपाय यह है कि पानी को फिल्टर किया जाय।



फिल्टर (छानने) के लिए चार घड़े लेने चाहिए। एक घड़े की पेंदी में छेद करके रूई लगा देना चाहिए जिससे कि पानी दूसरे घड़े में टपक कर जाय। दूसरे और तीसरे घड़े में भी इसी प्रकार छेद करके रूई लगा देनी चाहिए और दूसरे के भीतर कोयला और तीसरे में रेत और कंकड़ रख देना चाहिए। चौथे घड़े में साफ पानी इकट्ठा होगा। इन घड़ों को इस प्रकार रखना चाहिए कि सबसे ऊपर वह घड़ा हो जिसमें केवल छेद है। उसके नीचे दूसरा घड़ा हो जिसमें कोयला है। इसके बाद रेत और कंकड़ का तीसरा घड़ा और सबसे नीचे चौथा घड़ा हो जिसमें शुद्ध पानी फिल्टर होकर जमा हो। यह तो स्पष्ट ही है

कि जल सबसे ऊपर वाले घड़े में भरा होगा और बाकी तीनों घड़े खाली होंगे।

(३) पानी साफ़ करने का तीसरा उपाय पोटैशियम परमंगनेट अथवा क्लोरीन का प्रयोग है। थोड़ी सी पोटैशियम परमंगनेट पानी में डाल देने से वह पीने लायक हो जाता है। इस प्रकार जल को शुद्ध करने के ये तीन सरल उपाय हैं। यदि पानी साफ़ करके पीने के काम में नहीं लाया जाता तो हैजा, टी०, बी०, पांडु रोग और टायफ़ायड बुख़ार जैसी बीमारियाँ हो जाती हैं। इसलिए गंदे जल को काम में नहीं लाना चाहिए।

भोजन—

शरीर के अच्छे स्वास्थ्य के लिए तीसरी आवश्यकता भोजन है। भोजन से शरीर को बल प्राप्त होता है और उसकी कमी पूरी होती रहती है। अतः भोजन के सम्बन्ध में भी ध्यान देना आवश्यक है। इसके लिए पहले भोजन के उन पदार्थों को देखना चाहिए जो शरीर के पालन-पोषण में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से निम्नलिखित वस्तुएँ आवश्यक हैं :—

(१) नाइट्रोजन्स कम्पाउंड—

यह दाल, माँस और मछली में पाया जाता है। इसकी आवश्यकता शरीर की घटी हुई शक्ति को पूरा करने और बल को बढ़ाने में है।

(२) चिकनाई के पदार्थ—

चिकनाई के पदार्थों में घी, मलाई और मक्खन प्रधान हैं। इनकी आवश्यकता शरीर के गर्मी और बल के लिए पड़ती है।

(३) कार्बन वाले पदार्थ—

इसमें शक्कर, गेहूँ, चावल और कई प्रकार की तरकारियाँ

सम्मिलित हैं। इनकी आवश्यकता परिश्रम करने की शक्ति उत्पन्न करने के लिए होती है।

(४) नमक—

पाचनशक्ति के लिए नमक की आवश्यकता होती है। प्राकृतिक नमक तरकारियाँ और फलों में पर्याप्त मात्रा में होता है।

(५) विटामिन—

विज्ञान की खोजों द्वारा विटामिन के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञात हुआ है। इसके द्वारा शरीर में ताज़गी और काम करने की इच्छा उत्पन्न होती है। विटामिन निम्नलिखित हैं :—

विटामिन ए—

मक्खन, दूध, हरे शाक, टमाटर, गेहूँ, गाजर, शलजम में पाया जाता है। यदि वे वस्तुएँ अधिक पकाई जाती हैं तो विटामिन नष्ट हो जाता है। विटामिन ए सूखा रोग को रोकता है और दाँतों तथा फेफड़ों को मज़बूत करता है। लकवा और छूत की बीमारी से बचने में भी विटामिन ए सहायक होता है।

विटामिन बी—

सूखे मेवे, दूध, गेहूँ. चावल, आलू , सेम, शलजम, गाजर और फलों में होना है। इससे शरीर का स्नायु-संस्थान मजबूत होता है। इसकी कमी से बेरी बेरी की बीमारी होती है।

विटामिन सी—

सब प्रकार के नींबू , संतरों, हरी तरकारियाँ, आलू , टमाटर और गाजर में पाया जाता है। यह चर्म रोग और खून की बीमारियों को रोकता है।

विटामिन डी—

दूध, पालक के साग, टमाटर और धूप में होती है। शरीर

को धूप में खुला रखने से चमड़े के भीतर की चर्बी सूर्य की एक विशेष प्रकार की किरणों (Ultraviolct) की सहायता से विटामिन डी में बदल जाती है। विटामिन डी से हड्डियाँ और दाँत मजबूत होते हैं।

इनके अतिरिक्त विटामिन ई और जी भी होते हैं जिनके कार्य भी अन्य विटामिनों की भाँति हैं।

संतुलित भोजन—

भोजन ऐसा हो कि उसमें शारीरिक विकास की दृष्टि से सभी वस्तुएँ आ जाँय। यह तो हमें ज्ञात ही है कि शारीरिक विकास के लिए भोजन में किन वस्तुओं का होना आवश्यक है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भोजन में जल भी सम्मिलित है। प्रति दिन एक व्यक्ति को लगभग डेढ़ सेर पानी पीना चाहिए। गर्मी के दिनों में जल की मात्रा बढ़ सकती है। लेकिन पानी खाने से पहले या खाने के बाद पीना चाहिए। खाने के बीच में यदि पानी पीते हैं तो पाचन शक्ति में गड़बड़ी होती है। भोजन में मौसम के फल अवश्य सम्मिलित करना चाहिए। हमारे देश में हर समय कोई न कोई फल सस्ता होता है। आम, अमरूद और पपीता सस्ते और गुणकारी फल हैं।

भोजन की स्वच्छता—

भोजन के लिए स्वच्छता आवश्यक है। अतः रसोई घर साफ और प्रकाशमान हो। उसमें हवा के आने-जाने की भी सुविधा हो। साथ ही मक्खियों से भी भोजन को बचाना चाहिए। भोजन में तरकारियों की सफाई भी आवश्यक है। जब कच्ची तरकारी लाई जाय तब उसे नमक के पानी से या परमंगनेट पोटाश के पानी से धो लेना चाहिए।

दूध—

दूध शारीरिक विकास के लिए आवश्यक है। इसलिए दूध के इस्तेमाल में भी सावधानी की आवश्यकता है। यदि दूध के रखने में असावधानी हुई तो दूध बिगड़ जाता है और बिगड़े हुए दूध का जब व्यवहार होता है तो मियादी बुखार, पेचिश, खून के दस्त और क्षयरोग हो सकता है। इसलिए दूध की सफाई में नीचे लिखी बातों की ओर ध्यान देना चाहिए:—

(१) गाय स्वच्छ और स्वस्थ हो (२) ग्वाला शुद्ध, स्वच्छ और स्वस्थ हो, (३) दूध का बर्तन साफ हो और (४) दूध को ढँक कर रखा जाय जिससे कि धूल और मक्खी से बचाव हो।

कुछ लोग कच्चा दूध भी पीते हैं। कच्चा दूध ज्यों ही दुह कर आवे पी लेना चाहिए। यदि कच्चा दूध देर तक रखा रहता है तो उसमें कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए दूध को इतना गरम करना चाहिए कि दो बार उबाल आ जाय। तभी दूध को पीना चाहिए।

भोजन करना—

भोजन की उपयोगिता बहुत कुछ भोजन करने के तरीके के ऊपर निर्भर होती है। कुछ लोग जल्दी जल्दी खाना खाते हैं। ऐसे लोग अपनी आँतों से दाँतों का काम लेते हैं। जो लोग खूब चबा कर भोजन नहीं करते, उनकी पाचनशक्ति खराब हो जाती है। इसलिए कहा जाता है कि एक ग्रास (निवाले) को कम से कम बत्तीस बार चबाना चाहिए। भोजन करते समय दूसरी बात यह आवश्यक है कि भोजन इतना न किया जाय कि पेट भर जाय। इसलिए भूख का तीन चौथाई भोजन करना चाहिए।

प्रकाश—

स्वास्थ्य की प्रथम तीन आवश्यकताओं के साथ प्रकाश का

भी उल्लेख आवश्यक है। प्रकाश के बिना जीवन का कार्य नहीं हो सकता। इसलिए प्रकाश की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

प्रकाश दो प्रकार का होता है। एक तो प्राकृतिक प्रकाश है जो कि हमें सूर्य और चन्द्रमा से प्राप्त होता है। सूर्य के प्रकाश से स्वास्थ्य की रक्षा होती है। इससे कीटाणु मरते हैं। इसलिए सभी कमरों में धूप के जाने का प्रबन्ध हो। कमरे के भीतर जितने सामान हों उन्हें कम से कम सप्ताह में एक बार धूप में रख देना चाहिए। बिस्तर आदि तो धूप में अवश्य डाल देना चाहिए। इसके अतिरिक्त चन्द्रमा का प्रकाश शीतल होता है। वह आँखों के लिए हितकारी है। पर धूप की भाँति चाँदनी उपयोगी नहीं है।

कृत्रिम प्रकाश चिराग, लालटेन, मोमबत्ती और बिजली से मिलता है। रात के समय अध्ययन करते समय प्रकाश के प्रयोग में सावधानी की आवश्यकता है। अतः प्रकाश इस प्रकार रखा जाय कि नेत्रों पर उसका प्रभाव न पड़े। इसलिए प्रकाश को बाईं ओर या पीछे की ओर रखना चाहिए। बिजली की रोशनी में भी इस प्रकार का प्रबन्ध रखना चाहिए और अधिक तेज रोशनी में अध्ययन नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार स्वास्थ्य की इन आवश्यकताओं की ओर ध्यान देना चाहिए और छात्रों को इन बातों के बारे में भलीभाँति बता देना चाहिए।

स्वच्छता तथा अन्य कार्य

स्वास्थ्य की आवश्यकताओं और उनकी स्वच्छता पर विचार करने के पश्चात् अपनी स्वच्छता (Personal Hygiene) पर ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि बिना इसके विद्यार्थी निरोग नहीं रह सकता। अपनी स्वच्छता के लिए अध्यापक और विद्यार्थी को समान रूप से ध्यान देना है। जो अध्यापक स्वयं स्वच्छ नहीं रहता, वह किस प्रकार दूसरे को स्वच्छ रहने के लिए कह सकता है। इसलिए 'अपनी स्वच्छता' की दृष्टि से निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है:—

त्वचा--

अपनी स्वच्छता के लिए शरीर की त्वचा को साफ रखना चाहिए क्योंकि त्वचा से हमारा शरीर ढँका हुआ है। यदि त्वचा (खाल) पर मैल जम जाती है तो छोटे छोटे छिद्र जिनके द्वारा पसीना बाहर निकलता है, बंद हो जाते हैं। ऐसा होने पर चर्म रोग हो जाता है। इसलिए स्नान करना अत्यन्त आवश्यक है।

स्नान—

स्नान सदा करना चाहिए। जाड़े के दिनों में प्रातः एक बार और गर्मी के दिनों में प्रातः और सायंकाल स्नान करना चाहिए। स्नान भी समय से होना चाहिए। भोजन के पश्चात् कभी स्नान नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से पाचनशक्ति बिगड़ती है। स्नान के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि पानी शुद्ध और ठंडा हो। शीतल और स्वच्छ जल के स्नान से स्वास्थ्य अच्छा होता है। स्नान करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सभी अंग भलीभाँति साफ़ हो जाँय। इसलिए अच्छे साबुन का प्रयोग

करना चाहिए। नहाने के साबुन को ही शरीर में लगाना चाहिए, कपड़ा धोनेवाले साबुन को नहीं। जाड़े के दिनों में कड़ुवा तेल लगाकर नहाना भी अच्छा होता है।

दाँत--

अपनी स्वच्छता में दाँत की सफाई का प्रमुख स्थान है। यदि दाँत साफ़ नहीं होते तो जो भोजन पेट में जाता है, वह दूषित हो जाता है और इस प्रकार मनुष्य रोगी हो जाता है। अतः निरोग रहने के लिए दाँत की सफ़ाई आवश्यक है। इसके लिए दातौन प्रातः उठकर और रात में सोते समय करना चाहिए। बहुधा लोग केवल प्रातःकाल ही दाँतों की सफाई करते हैं। इससे दाँतों की सफाई पूरी नहीं हो पाती। रात में दाँत साफ़ करके सोने से अच्छी नींद भी आती है और किसी प्रकार की गंदगी नहीं होती। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि वह छात्रों से प्रातः-काल और रात्रिकाल में दाँतों की सफाई के लिए कहे। साथ ही पान खाने को रोके क्योंकि इससे दाँत खराब होते हैं।

बाल--

बहुधा विद्यार्थी बाल बड़े बड़े तो रखते हैं, पर उनकी सफाई अच्छी तरह नहीं करते। इसलिए उनके सिर में रूसी पड़ जाती है और दर्द भी होता है। इससे बचने के लिए बाल को अच्छे साबुन (शिकाकाई), बेसन या आँवले से धोना चाहिए। बाल धोने के बाद तौलिये से अच्छी तरह पोंछ कर तेल लगाना चाहिए। कड़ुवा तेल या नारियल का तेल लाभदायक होता है। इससे बाल सफेद नहीं होते और न टूट कर गिरते ही हैं। जो लोग सुगंधित तेलों के शौकीन हैं उनके बाल टूटने और सफेद होने लगते हैं। बाल में तेल इतना लगाना चाहिए कि वह अच्छी तरह सूख जाय। अधिक तेल लगाने से बाल के तेल में धूल

मिल कर गंदगी उत्पन्न होती है। इसलिए प्रतिदिन सिर में तेल नहीं डालना चाहिए। दूसरे-तीसरे दिन बाल धोकर ही सिर में तेल डालना चाहिए।

नेत्र—

नेत्र की रक्षा के लिए नेत्र की सफाई करनी चाहिए। यदि नेत्र न हो तो मनुष्य जीवित रहते हुए भी मरे हुए के समान है। इसलिए नेत्र को अच्छी दशा में रखने की ओर ध्यान देना चाहिए। इसके लिए प्रातःकाल शौच के पश्चात् मुँह धोते समय ठंडे पानी से आँखों को धोना चाहिए। आँख धोने के लिए विशेष प्रकार के शीशे के प्याले आते हैं। इस प्याले का आकार नेत्र के समान होता है। नेत्र धोने के लिए इस प्याले में ठंडा जल भरकर एक हाथ की तर्जनी और अँगूठे से पलकों को हटाकर प्याले को नेत्र पर लगा देना चाहिए। तत्पश्चात् मुख को ऊपर की ओर उठा दिया जाय जिससे प्याला उलटा हो जाय और प्याले का जल नेत्र में भर जाय। एक या दो मिनट के बाद प्याले को हटा लेना चाहिए और फिर जल फेंक देना चाहिए। आँखों की रक्षा के लिए यह भी आवश्यक है कि किसी तेज़ रोशनी या धूप में पढ़ा न जाय। धूल से भी आँखों को हानि



ग़लत



सही

पहुँचती है। इसलिए धूल से भी नेत्रों को बचाना चाहिए। पुस्तक पढ़ते समय भी यह ध्यान रखना चाहिए कि नेत्र और पुस्तक के बीच में लगभग १८ इंच की दूरी हो। साथ ही पढ़ते समय इस प्रकार बैठना चाहिए कि प्रकाश नेत्रों पर न पड़कर पुस्तक पर पड़े। लेटकर पढ़ने से नेत्रों को हानि पहुँचती है। कम रोशनी में भी पढ़ने से नेत्र दुर्बल होते हैं। यदि कभी आँख में कोई साधारण तकलीफ हो तो गुलाब जल या फिटकिरी के जल से आँखों को धोना चाहिए।

नाक—

मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों में नाक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाक पर न जाने कितने मुहावरे बन गये हैं। इसलिए लोग 'नाक कटने' की बात करते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी नाक को स्वच्छ रखना चाहिए। यदि नाक साफ़ नहीं रहतो तो मुँह से साँस लेने की आदत पड़ जाती है और इससे गले में कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए नाक को साफ रखना चाहिए। साफ रखने का सरल उपाय यह है कि समय-समय पर नाक से ठंडा पानी ऊपर की ओर खींचना चाहिए। ऐसा करने से पहले कुछ तकलीफ अवश्य होगी। पर थोड़े समय के बाद यह तकलीफ दूर हो जायगी।

कान—

कान की सफाई भी आवश्यक है। कान साफ न करने से कान में फुँसी-फोड़े हो जाते हैं और बहुत दर्द होने लगता है। कभी कभी तो मवाद भी बहने लगता है। कुछ छात्रों की यह आदत होती है कि वे कलम या पेन्सिल से कान को साफ किया करते हैं। इससे भी कान खराब होते हैं। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि वह छात्रों को कान में कलम-पेंसिल आदि डालने से

रोके। साथ ही कान की सफाई के लिए छात्रों से कहे कि वे घर पर कान में कडुवा तेल डलवा लें। यदि कान में रोग हो गया हो तो अस्पताल में इलाज करावें।

वस्त्र—

अपनी स्वच्छता के लिए शरीर के विभिन्न अंगों की सफाई के बाद कपड़ों की ओर ध्यान जाता है। कपड़े साफ पहिनने चाहिए। गन्दे कपड़ों से चर्म रोग होते हैं। कपड़ा पहिनते समय यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि वह तंग न हो। कसा कपड़ा पहिनने से रक्त-संचालन में रुकावट होती है। इसके अतिरिक्त तंग वस्त्रों के कारण शरीर को ताजी हवा नहीं मिलती। ताजी हवा न मिलने से भी तकलीफ होती है क्योंकि कसे कपड़े पहिनने से कपड़े के भीतर की वायु का ताप शरीर के ताप के समान हो जाता है।

कपड़ा पहिनते समय मौसम का भी ध्यान रखना होता है। जाड़े में ऊनी कपड़े और गर्मी में सूती कपड़े पहिनने चाहिएँ। जाड़े में सब कपड़ों के नीचे ऊनी वस्त्र होना चाहिए। इससे अधिक आराम मिलता है। नहीं तो सब कपड़ों के नीचे ऐसे कपड़े की गंजी पहिनना चाहिए जो पसीने को भलीभाँति सोख ले। वस्त्र के सम्बन्ध में रंग का प्रश्न आता है। गर्मी में सफेद अथवा हल्के रंग के वस्त्र पहिनने चाहिए क्योंकि इनसे शरीर को गर्मी नहीं मालूम पड़ती। यदि गहरे रंग के वस्त्र गर्मी के मौसम में पहिने जायँगे तो शरीर को गर्मी मालूम पड़ेगी। इसका कारण यह है कि गहरे रंग ताप को सोख लेते हैं और बहुत जल्दी ही गर्म हो जाते हैं।

जूते—

पाँव की रक्षा के लिए जूते पहिनने चाहिए। पर जूते ऐसे न

हों जिनसे पैर कस जाय। यदि जूते पैर में कसे होते हैं तो उँगलियाँ मुड़ जाती हैं और पाँव पतले हो जाते हैं। साथ ही ऊँची एड़ी का जूता भी हानिकर होता है। इसलिए आधे इंच से एक इंच तक की ऊँची एड़ी का जूता पहिनना चाहिए।

वस्त्रों की सफाई—

वस्त्रों और जूते के व्यवहार के बाद वस्त्रों की सफाई के सम्बन्ध में भी कुछ जान लेना आवश्यक है। वस्त्रों की सफाई केवल धोबी पर निर्भर नहीं होती। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को ध्यान देना पड़ता है। अतः सब से पहिले हमें यह करना चाहिए कि वस्त्रों को रखने का प्रबन्ध ठीक हो। पहिनने के कपड़े खूँटी पर टाँगे जाँय और दूसरे वस्त्र आलमारी या संदूक में रखे जाँय। कमरे में इधर उधर कपड़े नहीं डालने चाहिए। इसके अतिरिक्त बनियाइन को नहाते समय प्रतिदिन धोना चाहिए। सप्ताह में एक बार कमीज, कुरते और धोती आदि को धोने के लिए देना चाहिए। यदि कपड़े कम हैं तो अपने हाथ से साबुन लगाकर धो डालना चाहिए। कभी कभी वस्त्रों की मरम्मत की आवश्यकता होती है। इसलिए उनकी मरम्मत तुरन्त हो जानी चाहिए। समय पर मरम्मत हो जाने पर कपड़े अधिक दिनों तक काम में आते हैं।

कमरे की सफाई—

शरीर और वस्त्र के बाद उस कमरे की सफाई की बात उठती है जहाँ कि हम रहते हैं। लोग कहते हैं कि कुत्ता भी जहाँ बैठता है, उस स्थान को साफ करके बैठता है। इसलिए मनुष्य को तो अपने रहने का स्थान अवश्य साफ रखना चाहिए। अतः कमरे की सफाई के लिए सबसे पहला काम है अपने बिस्तरे को ठीक रखना। सबेरे उठकर बिस्तरे को झाड़ कर ठीक से

पलंगपोश या कंबल से ढँक देना चाहिए। कमरे में प्रति दिन झाड़ू लगाना भी आवश्यक है। कमरे की सफाई करते समय कोने कोने को साफ करना चाहिए। कहीं जाला आदि नहीं रहने देना चाहिए। बहुधा कमरे में अधिक सामान रख दिए जाते हैं। इससे सफाई में अड़चन होती है। कमरे में आवश्यकता से अधिक सामान नहीं होना चाहिए। कमरे की सफाई के लिए यह भी आवश्यक है कि कागज के टुकड़े आदि एक टोकरी में डाले जाँय। साथ ही कमरे के भीतर थूकना भी नहीं चाहिए। थूकने से रोग के कीड़े कमरे के भीतर फैलते हैं। इसलिए ऐसे स्थान पर थूकना चाहिए जो रहने के स्थान से दूर हो।

अपनी स्वच्छता के निमित्त ऊपर लिखी गई बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। अब हमें अपने अन्य कार्य के अन्तर्गत चलने, बैठने और लिखने-पढ़ने के ढंग पर विचार करना चाहिए।

चलना—

हम अपने कार्य के लिए चलते-फिरते हैं। चलने में पाँव का कार्य प्रमुख है। जो लोग लँगड़े हैं, उन्हें चलने-फिरने में कष्ट अवश्य होता है। लेकिन कुछ लोग पाँव रखते हुए भी ठीक से चलना नहीं जानते। जो लोग ठीक से नहीं चलते उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। इसलिए ठीक से चलना चाहिए। ठीक से चलते समय सिर ऊँचा और छाती आगे की ओर निकली होती है और दोनों हाथ आगे-पीछे की ओर हिलते रहते हैं। लेकिन हाथों के हिलने में जोर नहीं लगाया जाता। वे स्वाभाविक रूप से हिलते हैं। ठीक से चलते समय पैर को भी जोर से नहीं पटकते और न तो बहुत ही तेज चलते हैं और न बहुत ही धीरे। स्वाभाविक रूप से चलना चाहिए। ठीक से चलते समय शरीर को आगे की ओर नहीं झुकाते, वरन् सीधा रखते हैं। ऐसा करने

से साँस लेने में सुविधा होती है। यदि कोई आगे की ओर झुक जाता है तो साँस लेने में कष्ट होता है। जब खड़ा होना पड़े तब भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि शरीर सीधा रहे, कमर तनी हो और सिर किसी ओर भी तनिक झुका न हो।

बैठना—

ठीक से बैठने के लिए पीठ को सीधा रखना पड़ता है और सिर भी सीधा रहता है, साथ ही छाती भी आगे की ओर निकली होती है। यदि कोई आगे की ओर झुककर बैठता है तो हानि होती है। फर्श या तख्त पर बैठते समय भी शरीर को सीधा रखना चाहिए।

लिखना-पढ़ना—

शिक्षालय में स्वास्थ्य की दृष्टि से अध्यापक को विद्यार्थियों के लिखने-पढ़ने के समय बैठने की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। अतः अध्यापक को चाहिए कि वह इस सम्बन्ध में निम्न-लिखित बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान दे:—

(१) छात्रों की डेस्क या मेज इतनी ऊँची हो कि उन पर पुस्तक, कापी या स्लेट रखने पर आँखों से बारह से लेकर अट्ठारह इंच की दूरी रहे।

(२) कुर्सी या बेंच इतनी ऊँची होनी चाहिए कि पैर जमीन पर रखे जा सकें।

(३) डेस्क या मेज का वह भाग जिस पर पुस्तक रखी जाय कुछ ढालुवाँ होना चाहिए।

(४) पुस्तक को छात्र हाथ में इस प्रकार उठाकर पढ़ें कि वह आँख से लगभग बारह इंच की दूरी पर हो।

(५) लिखते समय छात्र अपनी कमर को सीधा रखें और झुकें नहीं।

इन बातों की ओर ध्यान देने से छात्र ठीक से बैठ कर लिखने-पढ़ने का कार्य करेंगे और उनका स्वास्थ्य भी बना रहेगा।

सोना और विश्राम—

कार्य के साथ ही सोने और विश्राम का प्रश्न उपस्थित होता है क्योंकि बिना विश्राम के मनुष्य भली भाँति कार्य नहीं कर सकता इसलिए सोने और विश्राम के संबंध में भी पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। थकान क्यों होती है, इसे हम जानते हैं। अतः थकान को दूर करने के लिए सोना और विश्राम आवश्यक है। सोने से थकान दूर हो जाती है। लेकिन यदि ठीक समय से और आवश्यक समय तक न सोया जाय तो विश्राम नहीं मिलता। इस सम्बन्ध मे डाक्टरों की राय है कि पाँच वर्ष से नौ वर्ष की आयु के बालकों के लिए बारह घंटे से लेकर साढ़े दस घंटे तक, दस वर्ष से लेकर पद्रह वर्ष वालों के लिए साढ़े दस से लेकर दस घंटे तक और पंद्रह वर्ष से लेकर दस से साढ़े आठ घंटे तक और अट्ठारह वर्ष के ऊपर वालों के लिए आठ से सात घंटे समय सोने के लिए पर्याप्त है। दिन के समय जब काम करते करते थकान का अनुभव हो तो घंटे आध घंटे का विश्राम कर लेना चाहिए। लेकिन सोते समय हवा का पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिए। कमरे की खिड़कियाँ खुली हों और मुँह भी ढँका न हो। तभी अच्छी नींद आती है। जो लोग पर्याप्त समय तक विश्राम नहीं करते उनका स्वास्थ्य खराब होता है। इसलिए सोने और विश्राम की ओर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है।

स्वास्थ्य के शत्रु

स्वास्थ्य के शत्रु अनेक हैं। इन शत्रुओं में मनुष्य की बुरी आदतें, असंयमित जीवन तथा संक्रामक रोगादि हैं। यदि इन शत्रुओं से मनुष्य सावधान रहता है तो स्वास्थ्य बना रहता है। अतः सावधानी के लिए शत्रुओं को भलीभाँति जानना चाहिए।

मादक वस्तुएँ--

मनुष्य मादक वस्तुओं का व्यवहार किसी दूसरे के कारण शुरू कर देता है। यदि किसी तम्बाकू पीनेवाले से पूछा जाय कि आपने तम्बाकू पीना कब और कैसे शुरू किया, तो वह अवश्य यही कहेगा कि अमुक मित्र के कहने से मैंने तम्बाकू खाना या पीना शुरू कर दिया। यह बात बिल्कुल सच है। बुरी संगति में पड़कर मनुष्य मादक वस्तुओं का व्यवहार करने लगता है।

तम्बाकू--

मादक वस्तुओं में एक तम्बाकू भी है। तम्बाकू के पौधे होते हैं और इसकी पत्तियाँ तम्बाकू के रूप में काम में लाई जाती हैं। इन पत्तियों में एक प्रकार का विष होता है जिसे निकोटीन कहते हैं। इस विष की दो-तीन बूँद एक व्यक्ति को बेहोश करने के लिए काफी हैं। तम्बाकू के विष का प्रभाव विशेष रूप से हृदय पर पड़ता है। जो लोग सिगरेट पीना शुरू करते हैं उनके सिर में दर्द होता है और मिचली आती है। धीरे धीरे उनका शरीर पीला पड़ने लगता है और स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है। उन्हें नींद नहीं आती, भूख नहीं लगती, आँखें कमजोर हो जाती हैं और मुँह से बदबू आने लगती है। स्वास्थ्य के इस शत्रु से सबको

बचना चाहिए और अध्यापक को चाहिए कि वह स्वयं तम्बाकू का सेवन न करे और न विद्यार्थियों को करने दे।

भाँग, गाँजा और चरस--

भाँग का व्यवहार होली के अवसर पर साधारण रूप से किया जाता है। ज्ञात नहीं किस प्रकार यह रीति बन गई है। लेकिन ज्यों ज्यों लोगों को भाँग, गाँजा और चरस की बुराइयों के विषय में मालूम होगा, त्यों त्यों इनका व्यवहार कम होता जायगा। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि वह इन मादक वस्तुओं से होनेवाली हानियों से विद्यार्थियों को भलीभाँति परिचित करावे। इन मादक वस्तुओं से भी स्वास्थ्य खराब होता है। जो लोग भाँग खाते हैं उनकी पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है और उनकी आँखें लाल रहती हैं। गाँजा और चरस के व्यवहार से भी शरीर में विष फैलने लगता है। इसलिए इन वस्तुओं का प्रयोग किसी भी रूप में नहीं करना चाहिए।

अफीम--

मादक वस्तुओं में अफीम भी है। अफीमचियों के किस्से मशहूर हैं। जो लोग अफीम का व्यवहार करते हैं उनका दिमाग कमजोर हो जाता है, पाचनशक्ति दुर्बल हो जाती है और शरीर सूखने लगता है। अफीमची मे किसी प्रकार का उत्साह भी नहीं होता और उसके आचार-विचार भी ठीक नहीं होते। इसलिए अफीम खाना बुरा है। अफीम का प्रयोग दवा के रूप में पीड़ा को कम करने के लिए अवश्य होता है। लेकिन लोग पहले दवा के रूप में अफीम खाने के बाद अफीम की आदत डाल लेते हैं। अफीम में यही खतरा है।

शराब--

मादक वस्तुओं में शराब प्रमुख है। शराबियों को समाज में

आदर नहीं मिलता क्योंकि शराब पीने से बुरी आदतें पड़ जाती हैं। शराब में धन भी अधिक व्यय होता है। इसलिए कितने ही शराबी निर्धन हो जाते हैं और उनके घर के लोगों को भूखों मरना पड़ता है। शराब पीने से हृदय कमजोर होता है। ज्यों ज्यों शराब पीने की आदत पड़ती जाती है त्यों त्यों फेफड़ा और जिगर भी खराब होता जाता है और आँतों में घाव होने लगते हैं। शराबी जब सोकर उठता है तो उसे कै होती है। भोजन को वह पचा नहीं पाता। इस प्रकार उसकी मृत्यु निकट आती जाती है। अतः स्वास्थ्य के इस शत्रु से बचना चाहिए।

छूत के रोग—

स्वास्थ्य के शत्रु छूत के रोग भी हैं। ये रोग जीवाणुओं द्वारा फैलते हैं। यह छूत दो प्रकार का होता है। एक तो संसर्गज (Contagious) और दूसरा संक्रामक (infectious)। संसर्गज रोग वे हैं जो रोगी के संसर्ग में आने से फैलते हैं। खुजली, दाद, अपरस और आँख दुखने के रोग रोगी के साथ उठने-बैठने के कारण उत्पन्न होते हैं। संक्रामक रोग रोगी के कै, थूक और मल-मूत्र के कारण फैलते हैं। दूसरे शब्दों में संक्रामक रोग गंदगी के कारण फैलते हैं। यदि संक्रामक रोग के फैलने के कारणों को मालूम किया जाय तो वे निम्नलिखित वस्तुओं द्वारा फैलते हुए दिखाई पड़ेंगे।

(१) वायु द्वारा—

कुछ संक्रामक रोग ऐसे होते हैं जिनके जीवाणु वायु द्वारा फैलते हैं। चेचक (Chicken Pox), खसरा (measles), निमोनिया, तपेदिक, डिप्थीरिया और कुकुरखाँसी (Whooping Cough) के जीवाणु वायु द्वारा ही फैलाये जाते हैं।

(२) जल द्वारा—

जिन संक्रामक रोगों के जीवाणु जल द्वारा फैलते हैं वे ये हैं—हैजा, पेचिस, गठिया और मियादी बुखार।

(३) कीड़ों द्वारा—

जिन संक्रामक रोगों के जीवाणु कीड़ों द्वारा फैलते हैं वे इस प्रकार हैं:—मच्छर से मलेरिया, पिस्सू से प्लेग और खटमल, जूँ से अन्य रोग।

संक्रामक रोग प्रसार—

संक्रामक रोगों के प्रसार के इन कारणों में सम्पूर्ण समानता नहीं है। इनकी तीव्रता के कारण अंतर उपस्थित होता है। इस दृष्टि से संक्रामक रोग का प्रसार चार रूप में देखा जा सकता है:—(१) द्रुत संक्रामकता जब कि रोग तीव्रता से सारे गाँव या नगर में फैल जाता है, (२) स्थानीय संक्रामकता जब कि रोग किसी स्थानविशेष के कारण उत्पन्न होते हैं। जैसे दलदली स्थान में मलेरिया, (३) वैयक्तिक अथवा आकस्मिक संक्रामकता जब कि रोग कभी कभी एक-दो व्यक्तियों को हो जैसे निमोनिया या डिप्थीरिया और (४) विश्वव्यापी संक्रामकता जब कि रोग विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक फैलने लगता है जैसे इन्फ्लुएंजा।

बचने के उपाय—

छूत के रोगो से बचने का उपाय सबसे प्रथम उपायपूर्ण स्वच्छता है। पूर्ण स्वच्छता के अन्तर्गत अपनी स्वच्छता, वस्त्र और घर की स्वच्छता अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित उपाय भी काम में लाने चाहिए:—

इलाज—

संक्रामक रोग के होते ही किसी अच्छे डाक्टर को बुलाना

चाहिए। शहरों में हेल्थ अफसर होते हैं। इनकी सहायता तुरन्त मिल सकती है। संक्रामक रोगों के रोकने का मुख्य उत्तरदायित्व डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिस्पल बोर्ड के अधिकारियों पर है। इसलिए इन बोर्डों के स्वास्थ्य-विभाग को तुरन्त सूचना देकर इलाज का प्रबन्ध करना चाहिए।

संक्रामक रोग से दूसरे लोगों को बचाने के लिए रोगी को अलग रखना चाहिए। इसलिए संक्रामक रोग के अस्पताल में रोगी को भर्ती करा देना चाहिए। यदि यह संभव न हो तो रोगी के लिए घर का एक कमरा अलग कर दिया जाय और उसके मल-मूत्र, थूक और वमन आदि को सावधानी से हटाकर जला दिया जाय। इसके अतिरिक्त जीवाणुओं का नाश करने के लिए विसंक्रामक पदार्थों (Disinfectants) का प्रयोग किया जाय।

विसंक्रमण—

यह विसंक्रामक कार्य तीन प्रकार का होता है। एक तो प्राकृतिक विसंक्रामक है जिसमें शुद्ध वायु और धूप प्रधान है। अतः शुद्ध वायु और पर्याप्त धूप से भी विसंक्रमण होता है और जीवाणुओं का नाश होता है। दूसरा भौतिक विसंक्रामक है। इसके अन्तर्गत आग का प्रमुख कार्य है। भौतिक विसंक्रामक के लिए रोगी के थूक आदि जला दिए जाते हैं और कपड़ों को उबाल कर धोते हैं। कमरे के भीतर के जीवाणुओं का नाश करने के लिए कमरे की वायु को गरम करके तापमान को लगभग १५०° सेंटीग्रेड तक पहुँचा दिया जाता है। भौतिक विसंक्रामकका चौथा रूप भाप है। भाप से भी जीवाणुओं का नाश भली भाँति हो जाता है। चमड़े और लकड़ी की वस्तुओं का भौतिक विसंक्रामक भाप से नहीं हो पाता। साथ ही भाप द्वारा विसंक्रमण घर पर संभव नहीं है। इसके लिए म्युनिसिपलटियों द्वारा प्रबन्ध किया जाता है।

तीसरे प्रकार का विसंक्रामक रासायनिक होता है। रासायनिक विसंक्रामक पदार्थों में बोरिक एसिड, पोटेशियम परमंगनेट, ब्लीचिंग पाउडर और आइडोफार्म हैं। लेकिन ये सभी पदार्थ घोल कर काम में लाए जाते हैं। इस प्रकार विसंक्रमण द्वारा संक्रामक रोग रोके जा सकते हैं।

अब हम छूत के रोगों पर विस्तृत विचार करेंगे जिससे कि यह सरलतापूर्वक जाना जा सके कि रोग कौन सा है और उसका इलाज क्या है।

मलेरिया--

यह मच्छरों द्वारा फैलता है। मच्छर बीमार आदमी को काटकर स्वस्थ मनुष्य को काटता है और इस प्रकार स्वस्थ मनुष्य मलेरिया का रोगी बन जाता है। मलेरिया के रोगी को जाड़ा देकर ज्वर आता है और उसे पसीना छूटता है। मलेरिया से बचने के लिए मच्छरों का नाश करना चाहिए और मच्छरों से बचना चाहिए। मच्छरों से बचने के लिए शरीर पर कडुआ तेल लगाना चाहिए और मसहरी में सोना चाहिए। मलेरिया होने पर कुनैन खाना चाहिए और मलेरिया दूसरे को न हो, इसलिए रोगी को अलग रखना चाहिए।

मच्छरों का नाश--

लेकिन मलेरिया की जड़ मच्छरों का नाश आवश्यक है। यदि मच्छर न हों तो मलेरिया की बीमारी फैले ही नहीं। इसलिए मच्छरों का नाश करने के लिए निम्नलिखित उपाय काम में लाना चाहिए:—

(१) रहने के स्थान के पास पानी जमा नहीं होने देना चाहिए। इसके लिए छोटे गड्ढों को पाट देना चाहिए या उनका पानी निकाल देना चाहिए।

(२) तालाब के किनारे घास को साफ कर देना चाहिए और तालाब की गहराई अधिक कर देनी चाहिए।

(३) जिन तालाबों से केवल सिंचाई का काम लिया जाता है उनमें दूसरे-तीसरे दिन पशुओं के झुंड को छोड़ कर पानी को हिलवा देना चाहिए। ऐसा करने से मच्छर उस पानी में अंडे न दे सकेंगे।

(४) धान और ईख के खेत गाँव से आधे मील की दूरी पर होने चाहिएँ।

(५) धीरे बहनेवाले नालों के किनारे उपजी घास को साफ कर देना चाहिए और उन्हें नीचा तथा साफ करके पानी के बहाव को तेज कर देना चाहिए।

(६) जो कुएँ काम में न आते हों उन्हें पाट देना चाहिए। काम में आनेवाले कुओं के पानी को अक्सर हिला देना चाहिए जिससे मच्छर उनकी दीवारों पर से उड़ जाँय और पानी पर अंडे न दे सकें।

(७) घरों में पानी को ढँक कर रखना चाहिए जिससे मच्छर उनके भीतर न जा सकें और अंडे न दें।

(८) तालाबों में पैदा हुई कीड़ियों का नाश करने के लिए मिट्टी का तेल आवश्यकतानुसार काम में लाना चाहिए। इन कीड़ियों के नाश हो जाने पर मच्छर न बन सकेंगे। तालाब में मिट्टी के तेल को छोड़ने का उपाय यह है कि बाँस के सिरे पर कपड़ा लपेट कर उसे मिट्टी के तेल में भिगो कर तालाब के किनारे फेर देना चाहिए। इस प्रकार तालाब के पानी पर मिट्टी के तेल की एक तह फैल जायगी जिसके कारण कीड़ियाँ साँस न ले सकेंगी और मर जायेंगी। इसके अतिरिक्त कीड़ियों का नाश करने को तालाब में छोटी मछलियाँ डाल देनी चाहिए। ये मछलियाँ कीड़ियों को खा जाती हैं।

प्लेग—

प्लेग का रोग पिस्सुओं से फैलता है। ये पिस्सू चूहे के बदन पर होते हैं। पिस्सू पहले चूहों पर हमला करते हैं और फिर चूहों के द्वारा घरों में फैलते हैं। वैसे पिस्सू बीस या तीस गज से अधिक दूर नहीं जा सकता और ६ इञ्च से ऊपर कूद भी नहीं सकता। इसलिए यह चूहों की सहायता से ही सब स्थानों पर पहुँचता है। अतः प्लेग या ताऊन से बचने के लिए चूहों को कम करना चाहिए। बिल्ली के पालने से भी चूहे कम करने में सहायता मिलती है।

बचने के उपाय—

(१) जब प्लेग की बीमारी फैलनेवाली हो तो प्लेग का टीका लगवा लेना चाहिए।

(२) चूहों का मरना जब शुरू हो तो मकान को छोड़ देना चाहिए और ऐसे स्थान पर रहना चाहिए जहाँ चूहे न हों।

(३) मरे चूहे को हाथ से नहीं उठाना चाहिए। चूहा जहाँ मरा पड़ा हो, वहीं पर घास वगैरह डाल कर चूहे को जला देना चाहिए।

(४) प्लेग के रोगी के कपड़े रोगी के अच्छे हो जाने पर या मर जाने पर अच्छी तरह पानी में उबाले जाँय। यदि कपड़े पुराने और फटे हों तो जला दिए जाँय।

(५) प्लेग के दिनों में बिछौने और पहिनने के कपड़ों को धूप में डाल देना चाहिए।

हैज़ा—

हैज़े की बीमारी का प्रभाव दो से पाँच दिनों तक रहता है। हैज़े का रोग कीड़ों से फैलता है जो खाने या पीने की वस्तु के साथ पेट में पहुँच जाते हैं। कीड़ों के पेट में पहुँचते ही उलटी और

दस्त आने लगते हैं। इस दस्त और उलटी में हैजे के कीड़े भी होते हैं। अतः मक्खियाँ जब उलटी पर बैठती हैं तो कीड़ों को लेकर उड़ती हैं और स्थान स्थान पर हैजे को फैलाती रहती हैं। इसके अतिरिक्त हैजे के कीड़े कुएँ के पानी में भी पहुँच जाते हैं। इसलिए कुएँ के पानी में पोटैशियम परमंगनेट घोल कर डालनी चाहिए।

बचने के उपाय—

(१) हैज़े से बचने के लिए खाने-पीने की चीज़ को ढँक कर रखना चाहिए जिससे कि मक्खियाँ न बैठें।

(२) हैज़े के रोगी की उलटी और दस्त पर मिट्टी डाल कर रखना चाहिए और उसे बस्ती के बाहर ज़मीन में गाड़ देना चाहिए या जला देना चाहिए।

(३) हैजे के रोगी के कपड़े उबाल देने चाहिए जिससे कि कपड़े में जो कीड़े हैं, मर जाँय।

(४) रोगी के बर्तन अलग हों और उनका व्यवहार कोई दूसरा न करे।

(५) हैजे के दिनों में ताज़ा और गरम खाना खाया जाय। सड़ी-गली चीजें खाना ठीक नहीं। नींबू और दूसरे खट्टे फल हैजे के दिनों में खाने चाहिए। इससे कीड़ियाँ मरती हैं।

क्षय रोग—

क्षय रोग या टी० बी० का रोग हमारे देश में बहुत फैल रहा है। इसका कारण यह है कि क्षय रोग के सम्बन्ध में उचित ध्यान नहीं दिया जाता। अतः यह आवश्यक है कि हम क्षय रोग के सम्बन्ध में पूरी जानकारी रखें और उचित व्यवस्था करें।

रोग के कारण—

क्षय रोग के साधारणतः सात कारण हैं:—(१) पैतृक रोग

(२) दूषित वायु (३) अपर्याप्त भोजन (४) फेफड़ों का ख़राब होना (५) शरीर में अधिक थकावट होना (६) नशाख़ोरी और दुराचार (७) सामाजिक कुरीतियाँ और बुरी आदतें।

क्षय-रोग पैतृक रोग के रूप में होता है, इसका कोई पक्का सबूत नहीं मिलता। पर इतना अवश्य होता है कि क्षय-रोग से पीड़ित माता-पिता की संतान को भी संसर्ग के कारण क्षय-रोग हो जाता है। इसके अतिरिक्त दूषित वायु से क्षय-रोग का होना स्वाभाविक है। बार बार गंदी हवा में साँस लेने से फेफड़े खराब हो जाते हैं। क्षय रोग के दूसरे और जो कारण हैं वे स्पष्ट ही हैं। अतः उनके सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

रक्षा के उपाय—

क्षय-रोग से बचने के लिए सब से पहले क्षय के रोगी के सम्पर्क में नहीं आना चाहिए क्योंकि क्षय रोग अधिकतर क्षय-रोगी के थूक से फैलता है। इसलिए थूकने के बर्तन अलग हों। थूकदान या उगालदान में थूकना चाहिए और इन बर्तनों की सफ़ाई भी कारबोलिक लोशन से करनी चाहिए।

क्षय रोग से बचने का दूसरा उपाय यह है कि आराम काफी किया जाय और यदि नीचे लिखी बातें दिखाई पड़ें तो डाक्टर के पास जाना चाहिए :—

(१) सुस्ती का रहना और काम में जी न लगना (२) तीसरे पहर कुछ बेचैनी होना और हरारत का रहना (३) भोजन में और खास कर रोटी में अरुचि उत्पन्न होना (४) सिर में दर्द, दुर्बलता और वज़न में कमी (५) खाँसी और (६) भूख की कमी तथा कब्ज़ियत।

क्षय रोग से बचने के लिए स्वच्छ वायु का सेवन और धूप

अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए कमरे में ताज़ी हवा के आने-जाने का अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए। साथ ही जो लोग बैठकर अधिक काम करते हों, उनके लिए प्रातः और सायं स्वच्छ वायु-सेवन आवश्यक है।

क्षय रोग से बचने के लिए दूध तथा अन्य स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन को खाना चाहिए। साथ ही शरीर को अधिक थकाना भी नहीं चाहिए। इसलिए रात को देर तक जागना भी नहीं चाहिए। यदि इन साधारण बातों की ओर ध्यान दिया जायगा तो क्षय-रोग से रक्षा हो सकती है और मनुष्य स्वास्थ्य के शत्रुओं से मुक्त रह सकता है। अतः अध्यापकों को चाहिए कि वे छात्रों के स्वास्थ्य की ओर पर्याप्त ध्यान दें जिससे कि वे स्वस्थ हों और देश की रक्षा तथा उन्नति में सहायक हों।

शिक्षालय में स्वास्थ्य

शिक्षालय में स्वास्थ्य-रक्षा—

स्कूलों में स्वास्थ्य-रक्षा का कार्यक्रम किसी ऐसी व्यापक राष्ट्रीय स्वास्थ्य-योजना का एक प्रमुख अंग होना चाहिए, जिसका उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की सभी अवस्थाओं में स्वास्थ्य-सुविधाएँ प्रदान करना हो। स्वास्थ्य की सुविधाओं से जन्म लेकर उस समय तक लाभ उठाया जाना चाहिए, जब तक कि व्यक्ति अपने स्वास्थ्य की स्वयं रक्षा करने योग्य न हो जाय। अतएव इस लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त निवास-स्थान एवं स्कूल में स्वास्थ्य-रक्षा की सुविधाएँ बच्चे को इस प्रकार मिलनी चाहिए कि दोनों में पूर्ण सामंजस्य हो।

दुर्भाग्यवश हमारे देश में इस ओर बहुत थोड़ा ध्यान दिया गया है। बल्कि यह कहना ग़लत न होगा कि विगत काल में इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। संयुक्त प्रान्त में इस दिशा में पहला क़दम १९१९ ई० में उठाया गया जब कि शिक्षा-विभाग ने कुछ चुने हुए नगरों में स्कूलों के स्वास्थ्य के निरीक्षण की एक योजना चालू की थी और इस योजना के अनुसार छात्रों की बीमारियों के निदान तथा चिकित्सा के लिए थोड़े समय काम करनेवाले (पार्ट-टाइम) मेडिकल अफसर रखे गये थे, किन्तु स्कूलों में कोई अस्पताल न थे। यह योजना आरम्भिक रूप में १९३१ ई० तक जारी रही और तब यह अनुभव किया गया कि योजना को ठीक ढंग से चलाने के लिये उसे जन-स्वास्थ्य विभाग के सुपुर्द कर दिया जाय। सन् १९३१ ई० में जन-स्वास्थ्य विभाग ने इस योजना को अपने हाथ में ले लिया और १३ प्रमुख नगरों—लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, आगरा, बनारस, मेरठ, सहारनपुर,

मुरादाबाद, बरेली, शाहजहाँपुर, झाँसी, फैजाबाद और गोरखपुर के स्कूलों के लिए पूरे समय कार्य करनेवाले ट्रेन्ड-हेल्थ आफिसर नियुक्त किए गए, किन्तु फिर भी चिकित्सा का कोई प्रबन्ध न हुआ। बाद में उपर्युक्त सूची में देहरादून का नाम भी जोड़ दिया गया। कालान्तर में इस योजना को अच्छा रूप दिया गया और स्कूल चिकित्सालय के अभाव की सर्वप्रथम १९३४ ई० में पूर्ति की गई। अब इस योजना को चालू हुए १७ वर्ष हो गए हैं।

संगठन—

स्कूल-मेडिकल-निरीक्षण की योजना के अन्तर्गत समूचा प्रान्त सम्मिलित है। उपर्युक्त १४ नगरों में स्कूल के स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्य पूरे समय काम करनेवाले स्कूल-हेल्थ-अधिकारियों के हाथ में है, जिनमें से ६ बड़े नगरों—इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, बनारस, आगरा, एवं देहरादून में इन अधिकारियों की योग्यता डी० पी० एच० है और शेष ८ नगरों में एल० पी० एच०। प्रान्त के शेष भाग में स्वास्थ्य के जिला मेडिकल अधिकारी तथा म्युनिसिपल मेडिकल अधिकारी (एक्स-आफिशियो) स्कूल-स्वास्थ्य अधिकारी होते हैं, जो निरीक्षण का कार्य करते हैं।

विद्यार्थियों की जाँच—

विद्यार्थियों की मेडिकल जाँच तीन प्रकार की होती है:—(अ) नियमित, (ब) विशेष और (स) पुनर्निरीक्षण। नियमित निरीक्षण दो प्रकार के होते हैं—इनमें से एक को हम साधारण जाँच कहते हैं, जो ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्रों, हिन्दुस्तानी मिडिल तथा प्राइमरी स्कूलों में होती है तथा दूसरे को सविवरण जाँच, जो अंग्रेजी और मिडिल स्कूलों, अंग्रेजी नार्मल स्कूलों तथा इन्टरमीडिएट कालेजों में होती है।

साधारण जाँच—

लड़कों की सामान्य शारीरिक गठन तथा पुष्टि सम्बन्धी दशा देखी जाती है और उनके अध्यापकों एवं माता-पिता को सबसे निकट के चिकित्सालय (डिस्पेन्सरी) में लड़के को ले जाकर अस्वस्थता दूर कराने के लिए आवश्यक चिकित्सा का परामर्श दिया जाता है। यह जाँच एक बार स्कूल में प्रवेश करने पर लोअर प्राइमरी अवस्था में और फिर अपर प्राइमरी अवस्था में तथा अन्तिम बार मिडिल स्कूल में स्वास्थ्य के जिला मेडिकल-अधिकारियों तथा म्युनिसिपल मेडिकल-अधिकारियों एवं उनके असिस्टेंटों द्वारा की जाती है और हर स्कूल में जाँच का लेखा रखा जाता है।

सविवरण मेडिकल जाँच—

प्रायः सभी अंग्रेजी स्कूलों में होती है और यह कार्य पूरा समय काम करनेवाले स्कूल-स्वास्थ्य-अधिकारियों तथा एक्स-आफिशियो, स्कूल स्वास्थ्य-अधिकारियों अर्थात् जहाँ पूरे समय काम करनेवाले स्कूल स्वास्थ्य-अधिकारी नहीं हैं, वहाँ हेल्थ के डिस्ट्रिक्ट मेडिकल अधिकारियों एवं म्युनिसिपल मेडिकल अधिकारियों द्वारा की जाती है। प्रत्येक लड़के की क्रमबद्ध जाँच होती है और उसकी शारीरिक एवं पौष्टिक दशा पर विशेष ध्यान दिया जाता है और हर विद्यार्थी का मेडिकल हिस्ट्री-चार्ट बनाया जाता है। जिन विद्यार्थियों के स्वास्थ्य में गड़बड़ी होती है, उनके विषय में स्कूलों के हेडमास्टर को लिखा जाता है और उन्हें विद्यार्थियों की चिकित्सा तथा स्वास्थ्य की खराबी दूर करने के विषय में आवश्यक परामर्श दिया जाता है। यह जाँच सम्पूर्ण स्कूल-जीवन में तीन बार होती है अर्थात् प्रवेश करते समय, स्कूल-जीवन के बीच में (७ वीं कक्षा में) तथा अन्त में (१० वीं कक्षा में)।

विशेष जाँच—

उस समय होती है जब अभिभावक अथवा अध्यापक स्कूल-स्वास्थ्य-अधिकारी को इसके लिए लिखते हैं।

पुनर्निरीक्षण—

यह जाँच उन विद्यार्थियों की होती है, जिनकी जाँच पहले हो चुकी होती है और उनमें स्वास्थ्य-सम्बन्धी जो दोष पहले देखे गए थे उनको दूर करने के लिये चिकित्सा तथा देख-रेख के लिए फिर लिखा जाता है।

चिकित्सा—

चिकित्सा कार्य का केन्द्र स्कूल-क्लिनिक होता है। हर स्कूल में स्वास्थ्य-अधिकारी के लिए एक स्कूली दवाखाना की व्यवस्था है और उसमें रोगों तथा अन्य प्रकार की स्वास्थ्य-सम्बन्धी गड़बड़ी की चिकित्सा की जाती है। यह कार्य सन् १९३४ में प्रारम्भ किया गया था। इन क्लिनिकों के व्यय के लिए प्रत्येक विद्यार्थी से एक आना मासिक चिकित्सा-शुल्क लिया जाता है। इन क्लिनिकों में, जिन विद्यार्थियों के स्वास्थ्य में गड़बड़ी होती है, उनके अभिभावक स्कूल-स्वास्थ्य-अधिकारियों से सम्पर्क रखते हैं, जो उन्हें आवश्यक परामर्श देते हैं। इस प्रकार क्लिनिक स्कूल के अतिरिक्त अभिभावक तथा स्कूल-स्वास्थ्य अधिकारियों के बीच सम्पर्क स्थापित करते हैं।

निवास-स्थान में कार्य—

(डोमिसाइलियरी सर्विस) की व्यवस्था अभी तक वर्तमान योजना के अन्तर्गत सम्भव नहीं हो सकी है, क्योंकि इस कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति उपलब्ध नहीं है। स्वास्थ्य-निरीक्षकों की

ट्रेनिंग प्रारम्भ हो गई है और जब तक वे पर्याप्त संख्या में ट्रेनिंग समाप्त नहीं कर लेते तब तक इस प्रकार का कार्य असम्भव है।

पौष्टिक पदार्थ—

विद्यार्थी की शारीरिक पुष्टता की ओर स्कूल-स्वास्थ्य-अधिकारी विशेष रूप से ध्यान देते हैं। शरीर-पुष्टि को वे तीन भागों में विभक्त करते हैं—

(अ) अच्छी, (ब) साधारण और (स) खराब। इन्हीं के आधार पर लड़के छाँटे जाते हैं और चुने हुए लड़कों को तीन महीने तक एक पौंड दूध दिया जाता है और अच्छे भोजन के फलस्वरूप उनके स्वास्थ्य में जो उन्नति होती है उसका रिकार्ड रखा जाता है।

इसके अतिरिक्त मल्टी-विटैमिन-टिकियाँ भी दी जाती हैं और विद्यार्थियों के माता-पिता तथा अभिभावकों को ऐसे लड़कों के भोजन पर विशेष ध्यान रखने की सलाह दी जाती है। हर स्कूल में हर लड़के को दोपहर के समय अँखुएदार चने भी दिये जाते हैं और इसके लिए प्रति मास उनसे दो आना शुल्क लिया जाता है।

व्यक्तिगत तथा वातावरणात्मक हाइजिन

स्कूल-स्वास्थ्य-अधिकारी व्यक्तिगत तथा वातावरणात्मक हाइजिन पर विशेष ध्यान देते हैं। लड़कों के कपड़े उतार करके परेड पर जाँच होती है और उसमें विशेष रूप से चर्म रोगों की जाँच की जाती है। उनको स्वास्थ्यप्रद आदतें बताई जाती हैं और उन्हें व्यक्तिगत स्वच्छता पर ध्यान रखना पड़ता है। स्कूल की सफाई का प्रायः निरीक्षण होता रहता है और जो खराबियाँ होती हैं उन्हें दूर करने के लिए सुझाव दिए जाते हैं।

स्वास्थ्य-शिक्षा—

स्कूल-स्वास्थ्य-अधिकारी तथा अन्य सार्वजनिक स्वास्थ्य-कर्मचारी जब जाँच करने जाते हैं, तो वे स्वास्थ्य के विषय में बात-चीत एवं व्याख्यान करते हैं तथा मैजिक लैंटर्न द्वारा प्रदर्शन करके समझाते हैं। जूनियर रेड क्रास-दल द्वारा स्वास्थ्यप्रद आदतों की शिक्षा दी जाती है और इन आदतों को व्यवहार में लाने का अभ्यास कराने के लिए सप्ताह में एक दिन चुना जाता है। स्कूल के अध्यापक भी हाइजिन की ओर विशेष ध्यान देते हैं।

इस विषय में अभी तक जो काम हुआ है वह तो केवल सूत्रपात के समान है। भोर-कमेटी ने स्कूल-स्वास्थ्य-कार्य के प्रश्न पर विस्तृत रूप से जाँच की थी। उसकी सिफारिशों को ध्यान में रख कर सरकार एक व्यापक योजना पर विचार कर रही है।

ऊपर दी गई बातें युक्तप्रांतीय सरकार ने 'प्रांतीय समाचार' के पहली जनवरी '४९ के अंक में प्रकाशित किया है, जिससे कि यह स्पष्ट हो जाय कि सरकार शिक्षालय में स्वास्थ्य के लिए क्या कर रही है।